माणकचन्द कटारिया

● महावीर . जीवन मे ?
लेख-सकलन

● लेखक
माणकचन्द कटारिया

● प्रकाशक
श्री वीर नि ग्र प्र समिति
४८, सीतलामाता बाजार
इन्दौर-४५२००२, मध्यप्रदेश

● मुद्रक
अरविन्द कुमार जैन
मॉडर्न प्रिन्टरी लिमिटेड
५५, कडावघाट, इन्दौर

● आवरण
विष्णु चिंचालकर

● प्रथम आवृत्ति
दिसम्बर १९७५
वी. नि स. २५०२

● [illegible] ।

प्रकाशकीय

श्री माणकचन्द कटारिया का लेख सकलन 'महावीर जीवन में ?' श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर का नव्यतम प्रकाशन है। इसकी पीठ पर श्री वीरेन्द्रकुमार जैन का बहुसमीक्षित उपन्यास 'अनुत्तर योगी : तीर्थंकर महावीर' प्रकाशित हुआ है। इन दोनो के प्रकाशन से समिति का गौरव बढा है। स्पष्टत श्री कटारिया और श्री वीरेन्द्रकुमार की बहुमूल्य कृतियां परम्परित नही हैं, उनका अपना जुदा व्यक्तित्व है, और वे पक्की-गहरी लकीर से हटकर भविष्य की गोद में न्योत कर जन्मी हैं। कटारिया कसौटी के लेखक हैं। उन्होने प्रस्तुत सकलन में व्यापक जाच-परख के लिए सामाजिको को कई निर्मम, निर्द्वन्द्व और असदिग्ध कसौटियां दी हैं। इन कसौटियो पर लेखक ने जहां एक ओर खुद को कसा है, वही दूसरी ओर चाहा है कि इतर जन अपने मामाजिक चरित्र को इन पर कसें और अपनी प्रखरता और अ-खरता को पहिचानें।

इस लघुकाय पुस्तक का एक-एक निबन्ध पाठक के हाथ में एक मशाल देने के लिए बचनबद्ध है। यह मशाल कोई चित्र की मशाल नही है वरन् एक ऐसी मशाल है जो पाठक को निबिड अधेरो से जूझने की ताकत दे सकती है। सकलित लेखो मे से कुछ समिति की अगभूत प्रवृत्ति 'वीर निर्वाण विचार-सेवा' के अन्तर्गत देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशनार्थ वितरित हुए हैं तथा अधिकाश इन्दौर से ही प्रकाशित मासिक 'तीर्थंकर'

मे प्रकाशित हुए हैं। हम आभारी हैं 'तीर्थंकर' के प्रबन्ध संपादक श्री प्रेमचन्द जैन के जिन्होने हमे इन लेखो के प्रकाशन की अनुमति देकर अनुगृहीत किया है। हम लेखक के तो स्वभावत ऋणी हैं ही साथ ही 'जागरण' के प्रधान सपादक श्री ईश्वरचन्द्र जैन के भी हृदय से कृतज्ञ है जिन्होने इसके कलापूर्ण आकल्पन और मुद्रण मे हमे भरपूर सहयोग दिया है। हमे विश्वास है कि 'महावीर जीवन में ?' को व्यापक रूप से पढ़ा जाएगा और यह आने वाले कल की पीढ़ियों के लिए मील का पत्थर सिद्ध होगी।

बाबूलाल पाटोदी
मत्री

ग्रामुख

'महावीर जीवन मे ?' श्री माणकचन्द कटारिया की एक ऐसी अप्रतिम कृति है जो यद्यपि उनकी सर्वप्रथम कृति है तथापि इन दिनो ढर्रे पर छप रही पुस्तको से बिल्कुल जुदा किस्म की है। इसमे लेखक ने खुद को आत्मनिरीक्षण के निकष पर डाला है और चली आती परम्परा को तौल-परख के लिए न्यौता है। अठारह लेखों के इस लघुकाय सकलन में जहाँ एक ओर मर्मी लेखक ने परम्परा-परीक्षण की बहसो मे कुछ अहम सवाल उठाये हैं, वही दूसरी ओर उसने आधुनिको की अतिवादी वृत्ति को भी करारी चुनौतियाँ दी हैं। वह अपने समीक्षण मे परीक्षण से कहीं अधिक कठोर, निर्मम, प्रखर और वस्तुपरक रहा है।

इन लेखो की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्हें परम्परा और आधुनिकता मे आस्था रखनेवाली समान्तर शक्तियो ने समान रुचि, स्नेह, उत्कण्ठा और विश्वास के साथ पढा-सराहा है। जहाँ परम्परा ने इनके माध्यम से खुद में गुजरने की प्रक्रिया को अगीकार किया है, वहाँ आधुनिको ने इनके द्वारा परम्परा को जहा वह इस योग्य है अस्वीकार करने से इन्कार नही किया है। इसे हम लेखक की अमोघ उपलब्धि कहेंगे कि वह अपने युग के पेचीदा सदर्भों को सरल भाषा, सुगम विश्लेषण और सुबोध शैली मे रख सकने मे सफल हुआ है।

लेखक ने महावीर को केवल जैनों की पूजी न मानकर भारतीय इतिहास और सस्कृति की प्रज्ञा-परम्परा के साथ सबसे पहली बार न्याय किया है। उसने अपने युग-परिप्रेक्ष्य मे वर्द्धमान को जाना-पहचाना है। व्यक्ति मे, जश्न-जुलूसो मे, घर में, आंगन मे, मडी मे, हाट मे, व्यवसाय में, धन्धे मे और जीवन के प्राय सभी प्रखण्डो में उसने महावीर की तलाश की है। उसने पता लगाया है किसी को न बख्शनेवाली अपनी नजर से कि महावीर को उसके अनुयायियो ने, और दूर से देख भर लेनेवाली प्रज्ञा ने किस अन्दाज से उसे ग्रहण किया है। लेखक का धर्म-सबन्धी विश्लेषण भी सिर्फ जैनो तक ही सीमित नही है, उसने प्रयत्न किया है कि वह इन लेखो के माध्यम से भारतीय धर्म, सस्कृति और दर्शन की रचनाधर्मी पगडडियो को भी अछूता न रखे। अनेकान्तवाद को उसने अहिसा की प्रयोगशाला का सबसे अधिक सफल और शक्तिशाली प्रयोग माना है। उसका विश्वास है कि इसके माध्यम से बहुत पहले ही दुनिया का बेहद भला हुआ होता, यदि जैनधर्म की चिगत्ती उस पर नही होती। उसका यह सोचना बिल्कुल सही है कि आखिर चिगत्तियाँ किसी वस्तु के मूळ व्यक्तित्व को कम-ज्यादह कैसे कर सकती हैं? चिगत्तियाँ शुरू मे शूरवीर किन्तु अन्त मे लाचार ही होती हैं, लेबिल कटारिया के मत मे मूल मे कोई तबदीली नही कर सकते। वस्तुत कटारिया का चिन्तन इतना प्रखर, स्वस्थ और रचनाधर्मी है कि उससे कोई सहजमति शायद ही बच सके।

सयोगवश मैं इन लेखो के साथ कलम के साथ स्याही जिस तरह जुडी हुई है, वैसे ही सबद्ध हूँ। यदि मेरे इस जुडने की मुझे कोई सफाई ही देनी पडे तो मै कहूँगा कि जल से लहर और वस्तु से छाया जिस रिश्ते मे बधे हैं, मैं इन लेखो की सृजन-प्रक्रिया से जुडा हुआ हूँ। ये सारे लेख या तो 'तीर्थंकर' के लिए लिखे गए हैं या फिर 'वीर निर्वाण विचार-सेवा' के निमित्त। इन दोनो से मेरा रिश्ता है। मुझे स्मरण है हर लेख के साथ लेखक ने मुझे एक छोटा खत लिखा है। इन लघुपत्रो मे उसने शब्दो की

पूरी किफायत के साथ अपने चित्त की थाह दी है। १४ अक्टूबर १९७५ के खत मे उसने लिखा है—"यदि यह किताब निर्वाण-महोत्सव के पटाक्षेप के बाद भी निकले तो क्या हरकत ? अपने तो समारोहवाले हैं नही। समारोही वृत्ति को चुनौती देनेवाली पुस्तक समारोह से बचे भी क्यो ?" उनके हर खत की हर पंक्ति एक दस्तावेज की तरह से सुरक्षित है। इनका सबसे बड़ा उपयोग यह हुआ है कि हम यह निष्कर्ष ले सके हैं कि कटारियाजी अपने लेखन के प्रति निश्छल और असंदिग्ध हैं, और इसी स्पष्टता के कारण वे सारी बात को सुबोध ढंग से कह पाये हैं। तथ्यों के प्रति उनकी निष्कपट और ईमानदार वर्तनी प्राय सभी लेखो पर प्रतिच्छायित है।

'महावीर जीवन मे ?' के सारे लेख पूरे एक वर्ष के समय-पटल पर फैले हुए हैं। उपयोगी यह है कि ये सारे निर्वाणोत्सव के दौरान लिखे गये हैं। इसलिए लेखक देखता गया है कि कहाँ क्या हो रहा है, और शास्त्रो मे से जैनधर्म के चित्त की जो रपट उसे मिली है उससे इसका मिलान करता गया है। उसने समीक्षा की है कि कही ऐसा तो नही है कि आगम के आखर कुछ हैं और चरित्र कुछ है ? लेखक ने बे-लिहाज अपने चित्तकी प्रतिक्रिया को सामने रक्खा है। उसके सारे लेख देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ मे विशेष लेखो की तरह प्रकाशित हुए हैं। ऐसा नही है कि ये केवल हिन्दी-पाठको के पास ही पहुँचे है वरन् इनके गुजराती, मराठी, कन्नड आदि भारतीय भाषाओ मे अनुवाद भी हुए हैं और इन्हें सभी श्रेणियो के पाठको ने पढा-सराहा है। मैं समझता हूँ लेखो का भक्तामर, छहढाला, मोक्षशास्त्र की तरह पढा जाना पहली ही बार हुआ है। यह एक अच्छा लक्षण है। लोग चाहते हैं कि उन्हे कोई आईना दिखाये और वे आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया मे आये। किन्तु हमारा प्रबुद्ध लेखक सामाजिक आचरण पर अपनी राय देने की चित्तवृत्ति मे ही नही है। हो सकता है वह भयभीत हो। या उसके कोई न्यस्त स्वार्थ हो, किन्तु कटारिया अपनी जगह दुरुस्त है इस तथ्य से इन्कार करना कठिन काम है। समाज को एक व्यापक कृतज्ञता का अनुभव करना चाहिये कि कटारिया ने उसकी प्रज्ञा को

चाटुकारिता और कण्ठाग्रता के कर्दम से निकालकर एक स्वच्छ-निर्मल नीर वाली नदी के तट पर ला खडा किया है।

कटारिया के निबन्ध छोटे-बडे सब तरह के हैं। वे सुयोजित हैं, सहज हैं, असदिग्ध है, सुग्राह्य हैं, बिजली की छुहन की तरह का कम्पन और प्रकाश एक साथ लिये हुए हैं; धार्मिक शब्दावली मे मुझे कुछ उपमाएँ इन लेखो के लिए ढूंढना है तो मैं कहूँगा कि ये अनुप्रेक्षा की भाँति आत्म-दृष्टा और श्रमणवृत्ति की तरह निर्मम है।

अन्त मे मैं साधुवाद दूंगा श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर को कि उसने विगत वर्षों मे तीन काम बडी सूझ-बूझ के और सारे देश मे अपनी तरह के निराले किये हैं—मुनिश्री विद्यानन्दजी की कृतियो का प्रकाशन, श्री वीरेन्द्रकुमार जैन के उपन्यास 'अनुत्तर योगी तीर्थंकर महावीर' का तीन खण्डो मे प्रकाशन तथा कटारियाजी की अद्वितीय कृति 'महावीर जीवन मे ?' का प्रकाशन।

नेमीचंद जैन

३ दिसम्बर, १९७५ — सपादक, 'तीर्थंकर' इन्दौर

निवेदन

आदमी अपने कार्डियोग्राम या एक्सरे को टालता रहता है—कही कुछ खराबी निकल आई तो रोजमर्रा की जिन्दगी मे बाधा पडेगी, चिकित्सक जो कहेगा वह स्वीकारना होगा। धर्म के मामले मे भी जो जिस राह पर चल पडा है, चलता ही जा रहा है—न तो वह रुककर सोचना चाहता है और न अपने अगीकृत जीवन व्यवहार को धर्म की तुला पर चढाना चाहता है। धीरे-धीरे हमने यह मान ही लिया कि धर्म अपनी जगह है और ससार के कारोबार अपनी जगह है—दोनो समानान्तर रेखाओ पर अलग-अलग दौड सकते है। नतीजा यह है कि अपने ही धर्म से मनुष्य बाहर है।

महावीर की अहिंसा तो धर्म भी नहीं, जीवन है। वे अहिंसा के महान् शिल्पी है। जिन पायो पर अहिंसा टिक सकती है वह उन्होने अनुभूत किया और अपनी विराट् विरासत मे अहिंसा-धर्मी को उन्होने सह-अस्तित्व, अनेकात और अपरिग्रह के सिद्धान्त सौंप दिए। इन पायो के बिना पच्चीस शताब्दियो से अहिंसा-धर्मी अहिंसा को साधने

का सरकस कर रहा है। इस खेल मे वह भीतर से बहुत टूटा है।

जरूरत है कि हम कुछ रुक जाय और अपना एक्सरे कर डालें—कितना टूटे और कहा-कहा से टूटे, देख ले? जीवन में अहिंसा कितनी उतरी? २५०० वे परिनिर्वाण वर्ष से अधिक अच्छा समय और कौनसा होता? इस परम-पावन वर्ष मे मैं यह आत्म-निरीक्षण कर गया। कितना काम का और कितना अनर्गल इसे आप तौलिये। कही पैना हो गया हूँ तो क्षमा चाहता हूँ। कुछ पुनरुक्ति भी हुई है। वही-वही बात बार-बार कह गया हूँ। इन सब कसौटियो पर मुझे न कसकर इतना ही ग्रहण करे कि अहिंसा जीकर ही हाथ लगेगी और मनुष्य के सामने अपना सम्पूर्ण जीवन बदलने के अलावा कोई और मार्ग नही है।

तीर्थंकर के सम्पादक डॉ नेमीचन्दजी का आभार मानकर उऋण नही होना चाहता—उनका आग्रह, बल्कि प्रेमाक्रमण टाल सका होता तो यह लेखमाला आती ही नही। श्री वीर निर्वाण ग्रथ-प्रकाशन-समिति का मै कृतज्ञ हूँ कि उसने विचार सेवा के माध्यम से इनमे से कुछ लेख पूरे देश मे प्रसारित किए और अब यह सकलन पुस्तक के रूप मे प्रकाशित कर रही है। इस स्नेह के लिए मैं समिति के दोनो स्तम्भ—श्री बाबूलालजी पाटोदी और श्री माणकचन्दजी पाड्या का हृदय से आभारी हूँ।

माणकचन्द कटारिया

क्रम

१ अहिंसा आत्मबोध और समाजबोध

१२ वर्द्धमान का मुक्ति मार्ग

२२ महावीर की विरासत

२८ बेचारा पुण्य !

३३ पाप प्रसन्न है !

३८ जीवन एक बन्द पुस्तक

४५ त्याग$_2$ भोग$_1$

५२ 'सम्यक्' खो गया है

५९ भय से घिरे हैं आप

६६ भीड कही कुचल न दे !

७२ वाणी कुण्ठित है

७९ सुनेंगे ही सुनेंगे, करेंगे कुछ नही ?

८५ चलो तो मंजिल आ जाए

९३ अहिंसा की आधार शिला—अपरिग्रह

१०० परिग्रह—मूर्ति का

१०८ अनेकांत के बिना अहिंसा कितनी पंगु!

११६ सापेक्षता—अध्यात्म और विज्ञान

१२१ अहिंसा और सह-अस्तित्व

● ● ●

१

अहिंसा : आत्म-बोध और समाज-बोध

अहिंसा कोई नारा नहीं है, न ही यह कोई धर्मान्धता (डॉग्मा) है। न अहिंसा परिभाषा की वस्तु है, न वह पथ है। उसे न हम वाद कह सकते हैं, न हम उसे महज विचार मान सकते हैं। अहिंसा तो एक जीवन है, मनुष्यके जीवन की एक तर्ज़, जो केवल जीकर पहचानी जा सकती है, समझी जा सकती है।

प्रकाश की आप क्या व्याख्या करेंगे ? वर्णन से अधिक वह अनुभव की वस्तु है—उसी तरह अहिंसा मनुष्य के जीवन की एक विशेषता है। उसे जीता है तो वह मनुष्य रहता है, नहीं तो अहिंसा को खोकर समूची मानवता ही डूब सकती है।

अब क्या आप महज खाने-पीने की परिधि के साथ अहिंसा को जोड़ेंगे ? क्या आप रहन-सहन के दायरे से इसे बांधेंगे ? मैं मांस नहीं खाता तो क्या अहिंसक हो गया, या निरा शाकाहारी हूँ तो अहिंसक हो गया ? मैं

किसी की हत्या नही करता, न शिकार खेलता हूँ, न कीट-पतगो को मारता हूँ—मेरे लिए मास-मछली-अडा आदि अखाद्य हैं तो क्या मैंने अहिंसा को वर लिया ?—अब ये ऐसे प्रश्न हैं जिनकी तह मे आप जाएँ तो महावीर के नजदीक पहुँचेंगे। महावीर पशु-बलि से घबडाकर, युद्ध मे हो रहे विनाश को देखकर, राज्य-धन-यश की लोलुपता के कारण मनुष्य के द्वारा मनुष्य का हनन देखकर ससार से भागा और गहरा गोता लगा गया। अपने आप में डूब गया। अपने हृदय की असल गहराई मे उतर गया और जो रत्न वह खोजकर लाया वे अमूल्य है, अहिंसा को समझने मे सहायक है, अहिंसा को जीने की कीमिया हैं।

मुझे एक धर्मालु मिले, जो जीवदया के हिमायती हैं—कबूतर के लिए जुआर और चीटी की बाबियो मे आटा डालने का उन्हे अभ्यास हो गया है। प्राणिमात्र के लिए बहुत दयावान हैं। खान-पान की भ्रष्टता से वे बहुत चिन्तित हैं। उनके लिये अहिंसा याने शुद्ध शाकाहार—खाद्य-अखाद्य का विवेक और जीवदया। मैं उन्हे समझाता रहता हूँ कि इतना तो आज के इस विज्ञान युग मे परिस्थिति-विज्ञान (इकॉलॉजी) भी कर देगा। एक पूर्ण मासाहारी के लिए चार एकड जमीन चाहिए, जबकि एक पूर्ण शाकाहारी के लिए एक एकड जमीन ही पर्याप्त है। मनुष्य को अपनी जनसख्या का सतुलन बैठाना हो तो अपने-आप उसे मासाहार छोडना होगा। आबादी के मान से इतनी जमीन है नही कि मनुष्य मासाहार पर टिका रहे। शायद बहुत ही निकट भविष्य मे मनुष्य को अपनी सीमा पहचानकर मासाहार छोड ही देना होगा—तब क्या हम सम्पूर्ण मानव-जाति को अहिंसा-धर्मी मानेगे ? लेकिन इतना सरल मार्ग अहिंसा का है नही।

मूल बात दृष्टि की

इसीलिए महावीर बाहर की आचार-सहिता मे नही गया। भीतर

से अहिसा उगेगी तो बाहर का आचार-व्यवहार, रहन-सहन अहिसा के अनुकूल बनने ही वाला है। उसकी चिन्ता करनी नही पडेगी। महावीर ने मनुष्य को भीतर से पकडा। उसने जान लिया कि मनुष्य हारता है तो अपनी ही तृष्णा से हारता है, भस्म होता है तो अपने ही क्रोध से भस्म होता है, उसे उसका ही द्वेष परास्त करता है, अपनी ही वैर-भावना मे वह उलझता है। बाहर से तो कुछ है नही। वस्तुओ से घिरा मनुष्य भी अलिप्त रह सकता है, वस्तु को नही छूकर भी वह उसके मोह-जाल मे फँस सकता है। महावीर की यह अनुभूति बडे मार्के की है। उन्होने कहा है—

"अनाचारी वृत्ति का मनुष्य भले ही मृगचर्म पहने, नग्न रहे, जटा बढाये, सघटिका ओढ़े, अथवा सिर मुडा ले—तो भी वह सदाचारी नही बन सकता।"

मूल बात वृत्ति की है, दृष्टि की है। हम भीतर से अपने को देखे और उसकी सापेक्षा में इस जगत् को समझें। महावीर हमे बाह्य जगत् से खीचकर एकदम भीतर ले गये—यह है तुम्हारा नियत्रण-कक्ष। क्रोध को अक्रोध से जीतो, वैर को अवैर से पछाडो, घृणा को प्रेम से पिघलाओ, वस्तुओ का मोह सयम के हवाले करो। तृष्णा का मुकाबिला समता करेगी, लोभ पर अकुश साधना का रहेगा और इस तरह आत्मा अपने ही तेज-पुज मे अपने को परखेगी, जाचेगी, सम्यक मार्ग अपनायेगी।

इसी पराक्रम ने महावीर को 'महावीर' की सज्ञा दी। अपने गले का मुक्ताहार किसी को देकर झझट से मुक्त होना सरल है, लेकिन आपके गले मे पडी मोतियो की माला से अपना मन छुडाना सरल काम नही है। इस कठिन मार्ग की साधना महावीर ने की और कामयाबी पायी।

अहिसा के मार्ग मे एक और पराक्रम महावीर ने किया। उन्होंने अपनी खोज मे पाया कि अहिसा की आधार-शिला तो अपरिग्रह है—

अपरिग्रह की साधना के बिना अहिंसा टिकेगी नहीं । वस्तुओ से घिरे इस ससार मे सहज होना है तो परिग्रह छोडना होगा । इससे ही बात नही बनेगी कि आप यह तय कर ले कि मैं यह खाऊँगा, यह नही खाऊँगा, इतना पहनूंगा, इतना नही पहनूंगा, इतना चलूंगा, इतना नही चलूंगा । मेरी धन-मर्यादा इतनी है, वस्तु-मर्यादा इतनी है । **बात वस्तुओं को छोड़ने की नहीं, वस्तुओं से अलिप्त होने की है।** महावीर की साधना इस दिशा मे गहरे उतरी और उन्होंने वस्तुओ से अलिप्त होने की सिखावन दी । अहिंसा और अपरिग्रह को उन्होंने एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य बना दिया । यह एक ही सिक्का है—इधर से देखो तो अहिंसा है और उधर से देखो तो अपरिग्रह है । वस्तुओ मे उतरा-डूबा मन अहिंसा के पथ पर लडखडा जाएगा, उन्होंने इसका स्वय अनुभव लिया । अब यह जो आप उनका दिगम्बर रूप देखते हैं, वह महज त्याग नही है । निर्लिप्त रहने की साधना है । त्याग तो बहुत ऊपर-ऊपर की चीज है । अहिंसा के साधक को वस्तुओ से घिरे रहकर भी निर्लिप्त होने की साधना करनी होगी । और यह केवल साधक का ही रास्ता नही है, मनुष्य-मात्र का रास्ता है । मनुष्य के जीवन की तर्ज अहिंसा है तो उसे अलिप्त होने का अभ्यास करना ही होगा ।

सम्यक् जीवन

अहिंसा की साधना मे महावीर एक और रत्न खोज कर लाये । धर्म-जाति-लिंग-भाषा के नाम से मनुष्य ने जो ये खेमे बना लिये हैं, वे व्यर्थ हैं । मनुष्य, मनुष्य है । अब उसकी काया स्त्री की है या पुरुष की, जन्म उसने इस कुल मे लिया हो या उस कुल मे, वह मूल मे मनुष्य ही है । और मनुष्य के नाते अपने आत्म-कल्याण की उच्चतम सीढी पर चढने का उसे पूरा अधिकार है । स्त्री की छाया से डरने वाला सन्यासी-समाज महावीर की इस क्रांति से चौंका । कुलीनता की ऊँच-नीच भावना का

हिमायती समाज कांपा । लेकिन महावीर अपनी वीरता मे नहीं चूके । उनका अहिंसा-धर्म मानव-धर्म के रूप में प्रकट हुआ था । उन्होंने तो मनुष्य के बनाये चौखटो और घेरो से अहिंसा-धर्म को बाहर निकाला था । मनुष्य का धर्म वह है ही नही जो उसने पंथ, डॉम्मा, जाति या कौम के नाम से स्वीकारा है । उन्होने मनुष्य का असली धर्म मानव-मात्र के हाथ मे थमाया । 'आत्मधर्म'—आत्मा को पहचानो, जाति भूलो, कुल भूलो, स्त्री-पुरुष-भेद भलो । मनुष्य अगर मनुष्य है तो अपनी आत्मा के कारण है ।

जैसे हिंसा उसके जीवन की तर्ज नही है, उसी तरह धर्म-जाति वर्ग-लिंग आदि कठघरे भी मनुष्य के जीवन की तर्ज नहीं हैं । महावीर मानव-धर्म के हिमायती थे । मनुष्य अपना धर्म छोडकर और कौन-सा धर्म अपनाएगा ? उसका धर्म यही है कि वह सम्यक् बने । मनुष्य के जीवन की कोई सहिता हो सकती है तो केवल तीन सहिताएँ हैं—**सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य** ।

'ही' और 'भी'

उन्होने मनुष्य के हाथ मे एक और कसौटी रख दी । मनुष्य जो देखता है, सुनता है, समझता है और खोजकर लाता है, उसके परे भी कुछ है । अपने ही ज्ञान, अनुभव और अहकार में डूबा मन 'ही' पर टिक जाता है । समझता है उसने जो देखा–पाया–जाना वही तो सच्चा है, लेकिन इस परिधि के बाहर भी कुछ है जिसे और कोई देख, परख सकता है । मनुष्य की बुद्धि को इस 'भी' पर टिकाने मे महावीर ने गहरी साधना की । विज्ञान-युग मे आइन्स्टीन ने इस थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी–सापेक्ष-वाद को प्रयोगशाला मे सिद्ध कर दिखाया है । मनुष्य को सहज बनाने मे, नम्र बनाने मे, उसकी बुद्धि को खुली रखने मे, उसे अहकार से बचाने मे और इस व्यापक जगत का सही आकलन करने में यह सापेक्षवाद बड़े महत्त्व का तत्त्व है । ○

इस तरह महावीर अपने युग के तीर्थंकर थे । उन्होने मनुष्य के जीवन की तर्ज ही बदल दी । उसे वे हिंसा से अहिंसा की ओर ले गये, वैर से क्षमा की ओर ले गये, घृणा से प्रेम की ओर ले गये, तृष्णा से त्याग की ओर ले गये । तीर-तलवार के बजाय मनुष्य का आत्म-विश्वास अपने ही आत्म-बल पर टिका । ईसा मसीह को यह कहने की हिम्मत हुई कि–'यदि तुम्हारे एक गाल पर कोई थप्पड मारे तो उसके सामने अपना दूसरा गाल कर दो ।' मनुष्य के आरोहण मे यह महत्त्वपूर्ण ऊँचाई थी । मीरा हसकर गा सकी कि–'जहर का प्याला राणाजी ने भेजा, मीरा पी-पी हासी रे ।' त्याग, बलिदान, सहिष्णुता और क्षमा के उपकरण मनुष्य के हाथ लगे और उसे अपने अनुभव से यह समझ मे आया कि ये उपकरण घातक उपकरणो के मुकाबिले अधिक कारगर हैं । सारा पशुबल आत्मोत्सर्ग के सामने फीका पड जाता है ।

उलझन

यो महावीर ने मनुष्य को आत्म-विश्वास दिया, आत्म-बल दिया, सम्यक दृष्टि दी और अपने ही भीतर बसे शत्रुओ से लोहा लेने की कीमिया मनुष्य के हाथ मे रख दी । यह एक ऐसी साधना थी जिस पर अहिंसा-धर्म का हर राही चल सकता था । मनुष्य ने चलना शुरू किया । युगो-युगो तक चलता रहा और आज भी इसे निजी जीवन का आरोहण मानकर वह चल रहा है । एक से एक ऊँचे साधक आपको समाज मे दीखेंगे—सब कुछ छोड देने वाले आत्मलीन महातपस्वी । वे अपने आप मे रममान रहे हैं—बाहर से जैसे उन्हे कुछ छू ही नही रहा है । उनके चारो ओर समाज हिंसा की ज्वाला मे धू-धू जल रहा है और वे सहज है, निश्चल हैं । बम गिर रहे हैं और बस्तिया नष्ट हो रही है–पर साधक अपनी साधना मे लीन है । उन्हे मनुष्य की तर्ज को बदलनेवाली हिसाओ से कोई मतलब नही । वे अपने खेमे मे भीतर हैं और वहां की छोटी-छोटी

हिंसाओ पर नियत्रण पाने में लगे हुए हैं ।

दूसरी ओर, जैसे साधक को बाहर का जीवन नही छू रहा, वैसे ही समाज को साधक की साधना नही छू पा रही है । समाज उसे महात्मा, महामानव, महापुरुष और तपोपूत की सज्ञा देकर चरण छू लेता है और अपने हिंसक जीवन के मार्ग पर अबूझ दौड रहा है । राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, महावीर, मुहम्मद जैसे महाप्रभु आये, और साधुमना लोगो की लम्बी जमात हमारे बीच आयी, रही, हमे उपदेश देती रही, सिखावन दे गयी और खुद उन पर चलकर अहिंसा का पाठ पढा गयी कि मनुष्य के जीवन की यही तर्ज है—इसे खोकर वह मनुष्य नही रहेगा, लेकिन दुर्भाग्य कि मनुष्य ने अपने जीवन की दो समानान्तर पद्धतिया बना ली । भीतर से वह अहिंसा का पथिक है और बाहर समाज मे वह वस्तु-धन-सत्ता, पशुबल और अहकार पर आधारित है ।

गाधी ने इस उलझन को समझा । कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा लगाये तो नम्र होकर दूसरा गाल उसकी ओर कर देने से तुम्हारा अहकार तो गलेगा, लेकिन महज इस व्यक्तिगत साधना से समाज नही बदलेगा । समाज को अहिंसा की ओर ले जाना हो तो दिन-रात समाज मे चलने वाले शोषण, अपमान, जहालत और सत्ता की अन्धाधुन्धी से लोहा लेना होगा । अन्याय का सामना करना होगा । तब तक सामाजिक या राज-नैतिक अन्याय के प्रतिकार का एक ही मार्ग दुनिया ने जाना था—बल और बल-प्रयोग । विधि-विधान, दण्ड, जेल, फौज, युद्ध और न्यायलय भी इसी विचार को पोषण देने वाले उपकरण हैं । हजारों सालो से मनुष्य ने बल की सत्ता का खुलकर प्रयोग किया है । मनुष्य, मनुष्य का बदी रहा है, बल के सामने वह पगु है, सत्ता ने उसे भयभीत बनाया है, वस्तुओ ने उसे तृष्णा दी है और वह अपने आप मे ही विभाजित हो गया है । ए ब्रोकन मैन—एक टूटा हुआ आदमी । उसने अपने आत्म-मार्ग के लिए

मंदिरो की रचना की है, मसज़िद और गिरजाघरो का निर्माण किया है। वह घटो पूजा-पाठ कर लेता है, कीर्तन-भक्ति मे रमा रहता है। उपवास-व्रत मे लग जाता है। भूत दया की बात करता है। पशु-पक्षियो के लिए भोजन जुटाता है। लाचार मनुष्यो की सेवा के लिए उसने सामाजिक सस्थान खोले हैं। वह सेवक है, भक्त है, पुजारी है,उपासक है, विनम्रता ओढे हुए है, छोटे-छोटे त्याग साधता है, दयालु है, करुणा पालता है और प्रेम सजोता है। पर यह सब कुछ उसका व्यक्तिगत ससार है—आत्मसतोष के महज उपकरण। वहा वह धर्मालु है, धर्मभीरु है।

लेकिन जब वह समाज-जीवन मे प्रवेश करता है और उसका अधिकाश समय समाज-जीवन मे ही व्यतीत होता है, तब वह व्यापारी है, राजनीतिक है, सत्ताधीश है, धनपति है, शोषक है, स्वार्थी है, अहकारी है, उसकी सारी बुद्धि, सारी युक्ति अधिकाधिक पाने और स्वार्थ-साधना मे लगती है। परिणाम यह है कि मनुष्यो मे एक हायरआरकी—श्रेणिबद्धता खडी हो गयी है। आप बहुत मजे-मजे मे दीन-हीन-कगाल, निर्वसन और निराहार मनुष्य को नीचे की सीढी पर देख सकते है—बिलकुल दिगम्बर—त्याग के कारण नही, लाचारी के कारण। और उच्चतम सीढी पर वैभव मे लिपटे हुए समृद्ध मनुष्य को देख सकते है जो अपने ही ऐश्वर्य और मद मे मदहोश है। मनुष्य की इस हायरआरकी ने मनुष्य को प्राय समाप्त ही कर दिया है।

गाधी ने अच्छी तरह पहचाना कि मनुष्य की ये दो समानान्तर रेखाएँ इसे मनुष्य रहने ही नही देगी। ऐसे मे उसकी निजी नम्रता और भक्ति, त्याग और सयम भी उसे अहकारी ही बनायेगा। इसलिये उसने मनुष्य को इस खडित जीवन से बचाने की साधना की, मनुष्य को मनुष्य रहना है तो उसे साबित बनना होगा। जैन लोग तो खडित प्रतिमा को नमस्कार

भी नही करते । प्रतिमा खंडित नहीं चलेगी, तो मनुष्य कैसे खंडित चलेगा ? और मनुष्य साबित तभी बनेगा जब वह भीतर-बाहर का जीवन सहज बनाये। अहिंसा की साधना में यह एक धीर-गम्भीर, कठिन और लम्बा आरोहण है । उतना सरल नहीं, जितना व्यक्तिगत साधना का मार्ग है। 'एकला चलो रे' की भावना गुरुदेव टैगोर को बल दे सकी, नोआखाली में गाधी अकेला ही शान्ति-यात्रा पर चल पडा था। समाज-जीवन यदि पशु-बल से घिरा हुआ है और उसी पर आधारित है तो मनुष्य कितना ही मदिर-मसजिद की आराधना मे लगा रहे और ध्यान-धारणा करता रहे, अपने-आपको साबित नही रख सकेगा । रख पाया ही नही—इसीलिए तो वह टूटकर दो समानान्तर रेखाओ पर दौड रहा है ।

गाधी का विस्फोट

इस दृष्टि से देखे तो महावीर के बाद लगभग ढाई हजार साल के अन्तर पर एक दूसरा विस्फोट गाधी ने अहिंसा के क्षेत्र मे किया। उसने समाज-जीवन को बदलने का बीडा उठाया । **गुलामी से मुक्ति, शोषण से मुक्ति, भय से मुक्ति ।** डरा हुआ मनुष्य कौन-सी धर्म-साधना कर सकता है ? कायर की अहिंसा 'अहिंसा' नही है । ससार गाधीजी की इस साधना का प्रत्यक्षदर्शी है । निहत्थे लोगो ने महज अपने आत्मबल से साम्राज्य का झडा झुकाया है, उसकी तोपो के मुँह मोडे है । बहके हुए इन्सानो के सामने वह महात्मा अपना सीना ताने अडा रहा। लोगो के मन बदले । उसने आग गलती उज्वालामुखी धरती पर प्रेम के बीज बोये-उगाये ।

मनुष्य को, सत्ताधीशो को और मनुष्य के समुदायो को जीतने मे उसने शरीर-बल का आधार लिया ही नही । मेरी कष्ट-सहिष्णुता आपके दिल को पिघलायेगी, मेरा त्याग आपके लालच को रोकेगा, मेरा सयम आपकी अफलातूनी पर बदिश लायेगा । आप बहक रहे हैं, मैं मर मिटूंगा ।

मैं आपकी हिंसा का रास्ता रोकूँगा और आपको अहिंसा की ओर मोड़ूंगा—बदूक से नहीं, स्वय मर-मिट कर। बात खुद के अहिंसक होने या अहिंसा-धर्म पर चलने से नही बनेगी, वह तब बनेगी जबकि मैं आपकी हिंसा को रोकने के लिए उत्सर्ग हो जाऊँ। **महावीर ने तप सिखाया अपने आत्म धर्म के लिए, गांधी ने मरना सिखाया समाज को अहिंसक बनाने के लिए। दोनों कठिन मार्ग हैं—जी-तोड श्रम-साधना के मार्ग हैं।** महावीर और गाधी—दोनो यह कर गये। मनुष्य को सिखा गये। गाधी ने 'सत्याग्रह' का एक नया उपकरण मनुष्य के हाथ मे थमाया। एटम बम जहा फेल होता है, वहा सत्याग्रह पर आधारित जीवन-बलिदान सफल होता है। मनुष्य की आस्था निजी जीवन मे 'हिंसा' पर से डिग चुकी थी, गाधी के कारण समाज-जीवन की 'हिंसा' पर से भी डिग चुकी है। समाज-जीवन मे प्रेम, सहयोग, समझाइश, मित्रता और सहिष्णुता का आधार मनुष्य ले रहा है। दिशा मुड गयी है। यो लगातार ढेर-के-ढेर शस्त्र बन रहे है, सहारक शस्त्र बन रहे है, फौजे बढ रही हैं, भय छा रहा है तथा दुनिया विनाश के कगार पर खडी है, पर भीतर से मनुष्य का दिल सहयोग और सहिष्णुता की बात कर रहा है। शस्त्र अब उसकी लाचारी है, आधार नहीं।

जैसे व्यक्तिगत जीवन में तृष्णा मनुष्य की लाचारी है, आकाक्षा नही। क्रोध-वैर बेकाबू हैं, पर चाहना नही। लोभ और स्वार्थ उसके क्षणिक साथी हैं, स्थायी मित्र नही। उसी तरह सामूहिक जीवन में हिंसक औजार, सहारक शस्त्र, बल-प्रयोग, एकतत्र राज्य-प्रणाली, फासिज्म, आतकवाद मनुष्य की पद्धति नही है। वह उसका वहशीपन है। इस बुनियादी बात को गले उतारने मे गाधी कामयाब रहा है।

महावीर ने मनुष्य के भीतर अहिंसा का बीज बोया तो गाधी ने उसकी शीतल छाया समाज-जीवन पर फैलायी। यह सभव ही नही है

कि मनुष्य अहिंसा-धर्म की जय-जय बोले और रहन-सहन, खान-पान का शोधन करता रहे और समझता रहे कि वह अहिंसा- धर्मी हो गया। अपने भीतर की जीवन-तर्ज उसे समाज-जीवन मे उतारनी होगी, तभी अहिंसा की साधना मे वह सफल हो सकेगा। यो हम देखें तो पायेंगे कि महावीर और गाधी एक ही सिक्के की दो बाजुएँ हैं। महावीर ने आत्मबोध दिया और गाधी ने समाज-बोध। बात बनेगी ही नही जब तक आत्म-बोध और समाज-बोध एक ही दिशा के राही नहीं होगे। महावीर के अनुयायियो पर एक बडी जिम्मेदारी गाधी ने डाली है। महावीर के अनुयायी अच्छे मनुष्य है—जीव-दया पालते हैं, करुणा और प्रेम के उपासक हैं, सयमी हैं, व्रती हैं, त्याग की साधना करते हैं, धर्मालु है—इतना करते हुए भी खडित मनुष्य हैं।

अपनी व्यक्तिगत परिधि से बाहर समाज-जीवन में आते ही वे टूट जाते है। वहा उनकी सारी जीव-दया समाप्त है, सारा सयम बह जाता है, त्याग का स्थान सग्रह ले लेता है, स्वार्थ-तृष्णा-सत्ता उन पर हावी हो जाती है और तब अहिंसा महज एक चिकत्ती-'लेबल' रह जाती है। अहिंसा तो एक साबित मनुष्य के जीवन की तर्ज है—उसके भीतर के, बाहर के जीवन की। महावीर और गाधी को जोड दे तो यह बाहर-भीतर की विरोधी तर्जें समाप्त होगी और मनुष्य अहिंसा का सच्चा पथिक बन सकेगा।

○○

२

वर्द्धमान का मुक्ति-मार्ग

निर्वाण कोई फिनामिना—चमत्कार नही है, एक प्रक्रिया है। उसका सम्बन्ध जीवन से है, मृत्यु से नही। वह मुक्ति का अतिम चरण है, एक ऐसी अवस्था जब शरीर और आत्मा एकमेव हो जाते है। आत्मा और शरीर महज जुदा-जुदा हो, एक-दूसरे से छूट जाएँ तो उसे हम मृत्यु कहते हैं। और मात्र मृत्यु से अगर मुक्ति मिलती हो तो फिर आत्म-हत्या से ही काम चल जाएगा। एक-एक भूकम्प से हजारो को मुक्ति मिल जाएगी। महायुद्धो से अब तक कितनो का ही निर्वाण हो गया होता! पर ऐसा होता नही—मृत्यु और मुक्ति दो अलग रास्ते हैं। जो जीता है वही मुक्ति के द्वार भी खोलता है और खोलते-खोलते जब वह सारे द्वार खोल चुका होता है, अपने सारे बन्धन काट चुका होता है तब वह निर्वाण-पद को प्राप्त करता है। महावीर ने वही किया। उसने जीवन जीया और इस तरह जीया कि वह मुक्त होता गया और अन्तमे देह के बन्धन से भी

मुक्त हो गया। उसकी पुण्य-तिथि हमारे लिए **'निर्वाण-महोत्सव'** का दिन है—मुक्ति-पर्व है।

हम इसमे मनुष्य का पराक्रम देख रहे हैं, महावीरत्व देख रहे हैं। महावीर को इसलिए नहीं पूज रहे कि उसने मुक्ति प्राप्त की, बल्कि वह इसलिए हमारा आराध्य है कि उसने मनुष्य को मुक्ति का मार्ग दिखलाया। उसे सही जीवन जीने का बोध दिया, हौसला दिया। महावीर ने खोज की, देखा, परखा और जिन बन्धनो में मनुष्य खुद के ही कारण जकडा हुआ है उन्हें तोडा और तोडते चला गया। बन्धन उससे छूटते गये। और बात यहीं तक सीमित होती तो वे हमारे लिए केवल एक 'तीर्थंकर' होते—हम उन्हें 'युग-प्रवर्तक' के रूप में सभवत नही पहिचान पाते। लेकिन महावीर ने अपना मुक्ति-बोध बाटा। धर्म-जाति-वर्ग की सीमाये लाघकर मनुष्य-मात्र के लिए उन्होने मुक्ति के द्वार खुले कर दिये। इसलिए वे केवल 'जैनो' के महावीर नही हैं, सारे विश्व के महावीर हैं। समूची मनुष्य-जाति के वर्द्धमान (विकासशील) है।

मुक्ति किससे ?

इस आत्मजयी से आप पूछ सकते हैं कि मुक्ति किससे ? मनुष्य ने तो अपनी बहुत सी बाधाएँ दूर कर ली हैं। बहुत से झझट पार कर लिये हैं—व्याधिया उसके नियन्त्रण मे हैं, वस्तुएँ उसके लिए सुलभ हैं, उसके मस्तिष्क का इतना विस्तार हुआ है कि वह अपने हर कष्ट का इलाज ढूँढ सकता है, वह निर्माता है, भोक्ता है। जो थोडी गडबडी वितरण की, व्यवस्था की, कगाली की, गरीबी की और अमीरी के तफावत की है, वह भी मिट जाएगी—मनुष्य के ध्यान से बाहर यह बात है नही। फिर मुक्ति किससे ? **महावीर कहता है—मुक्ति अपने-आप से**—अपनी तृष्णा से, अपने वैर से, अपने क्रोध से, अपने मोह से, अपने विलास से, अपने अहकार से, अपने प्रमाद से। इनसे मुक्त हुए बिना बाहर के अधिकार-ससार, वस्तु-

ससार, यश-ससार और धन-ससार से मनुष्य को समाधान नही मिलता। सब कुछ पाकर भी वह बदी है। मनुष्य बाहर तो बहुत जूझ रहा है। रात-दिन इस खटपट में है कि वह पा ले, और-और पा ले। पाये बिना उसे चैन ही नही है। अब यह पाने की प्रक्रिया भी विचित्र है। बाहर प्राप्त करता जाता है, भीतर से बन्द होता जाता है। कपाट-पर-कपाट लगते चले जाते है। महावीर कहता है कि भीतर झाककर तो देखो कि तुम हो कहा ? बाहर के विस्तार ने मनुष्य की आत्मा को ही कैद कर लिया है। मनुष्य का कण्ट्रोल रूम—नियत्रण-कक्ष घिर गया है। उसके जीवन की तर्ज अहिंसा है, पर हिंसाएँ कास की तरह उसके चारो ओर उग रही हैं। वह सत्य-प्रिय है, पर हर सास के साथ उसे झूठ पीना पड़ रहा है, वह करुणा-मूर्ति है पर अन्याय सह रहा है और अन्याय कर रहा है, क्यो ? नियन्त्रण-कक्ष का मालिक मनुष्य अब अपने ही नियन्त्रण मे नही है। वह बाहर बेकाब होकर दौड रहा है। भीतर आत्मा बन्द है और बाहर उसने विश्व-विजय का फतवा पा लिया है। इस विश्व-विजयी मनुष्य के हाथ मे आत्मजयी महावीर 'विवेक' थमाना चाहते है। विवेकहीन होकर उसने सब कुछ पाया—चाद तोड लाया और सितारे तोडने की धुन मे है—उस मनुष्य को महावीर आत्मबोध देना चाहते है। वे कहते हैं **"धर्म कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। आत्मा की निर्मल परिणति का नाम ही धर्म है।"** पर इसी आत्मधर्म को मनुष्य ने छोड दिया है। वह मुक्ति की आकाक्षा रखता है। मुक्ति की साधना जिस-जिसने की वे सब उसके आराध्य देव हैं। ढाई हजार वर्ष बाद भी वह बुद्ध का है, महावीर का है। ईसा की उन्नीस शताब्दिया वह देख चुका है, लेकिन मनुष्य के मुक्ति-पराक्रम मे भरोसा रखकर भी वह इस मार्ग पर चल नही पाया, यह एक कटु सत्य है।

आत्मबोध—एक प्रश्नचिन्ह

चल भले ही न पाया हो, परन्तु मनुष्य की मुक्ति का पराक्रम उसकी

आख से कभी ओझल भी नही हुआ है। उसकी सारी मिथॉलाजी—पौराणिक कथाएँ—मुक्ति की गाथाएँ हैं। किसने क्या करके मुक्ति पाई इसका रोचक वर्णन उनमे है। यह प्रतीक है मनुष्य की निष्ठा का। भटक रहा है वह बाहर-बाहर, पर जानता है कि मुक्ति के लिए उसे आत्मबोध की सीढ़ी पर पैर रखना होगा। हमारे सारे धर्म-शास्त्र आत्मा और परमात्मा के बढिया मेटाफिजिक्स—अध्यात्म ग्रन्थ हैं। सब के पास आत्मतत्त्व की फिलॉसाफी है—अलग-अलग जरूर है—जैन फिलॉसाफी, हिन्दू फिलॉसाफी, क्रिश्चियन फिलॉसाफी, इस्लाम फिलॉसाफी आदि-आदि। लेकिन मजिल सबकी एक ही है कि मनुष्य को अपना आत्मधर्म समझना है—उस पर चलना है। ऐसा किये बिना उसके मुक्ति-द्वार नही खुलने के।

तत्त्व-मीमासा के जटिल गणित भी हैं जो द्रव्य, पुद्गल, परमाणु, कर्म, कर्म गति, पुण्य, पाप, निर्जरा, सवर आदि की पारिभाषिक शब्दावली के साथ आपके सामने ससार, नर्क और स्वर्ग का व्याप प्रस्तुत करते हैं। सब धर्म वालो के पास अपने अपने धर्म-सस्थान हैं—मदिर, मठ, गिरजाघर, मसजिद, उपासरे, आश्रम आदि-आदि। अनन्त हैं—एक-एक बस्ती मे दस-दस, बीस-बीस। फिर है आराधना के अलग-अलग प्रकार। भजन-कीर्तन से लेकर मौन एकान्त ध्यान-धारणा। व्रत-उपवास, प्रदोष, खाने-पीने, रहने-सहने के बेशुमार नियम-उपनियम। जिससे जो सध जाये। यज्ञ, अनुष्ठान, पूजाएँ, मत्र-तत्र, जाप की अनेक विधिया। इन सब के शास्त्र रचे हुए हैं और तज्ञ लोग हैं जो आपसे यह सारी कवायत शास्त्र-सम्मत करवा लेते है। एक और दायरा भी है—दान-धर्म के विधि-विधान। यहा दो और वहा लो। बैंकें ससार का लेन-देन निबटा देती है और दान-धर्म के विधि-विधान आपका पारलौकिक लेन-देन निपटाने का दावा करते है।

यह सब इतना है कि मनुष्य की हर सास के साथ जुड गया है।

उसके जन्म से लेकर मरण तक विध क्या है । कितना-कितना समय मनुष्य इन सब मे दे रहा है । लगातार धार्मिक अनुष्ठान चलते रहते हैं, जिससे जो बन जाए, जो निभ जाए । कितनी भक्ति, कितनी आराधना, कितनी साधना, कितना स्वाध्याय—हिसाब की मर्यादा मे आप इसे आक नही सकेगे, लेकिन इतना करके भी मनुष्य के हाथ कितना आत्म-धर्म लगा ? मुक्ति के कितने द्वार उसने खोले ? उलझने बढी या घटी ? उसका राम उसे मिला क्या ? सभवत आप ये प्रश्न उठाना नही चाहेंगे । धर्म की लोकमान्य लीक से हटना भी नही चाहेगे । मैं भी आपकी आस्था नही डिगाना चाहता । जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि आराधना, पूजा, भक्ति और साधना का प्रतीक हमारा यह सारा धर्म-व्यापार एक खोज है । मुक्ति की खोज । हरेक को अपनी धर्म-विधि मे पक्काभरोसा है, इतना पक्का विश्वास कि उसे दूसरे की धर्म-विधि पाखण्ड लगती है । हम देख रहे है कि धर्म अनेक हैं, उनकी शाखा-प्रशाखाएँ अनन्त हैं, कई जातिया और उपजातिया हैं, सब के अलग-अलग विधि-विधान हैं, और हरेक का दावा है कि उसका रास्ता ही एकमात्र मुक्ति का सही-साठ रास्ता है ।

मुक्ति की इस साधना मे एक शक्तिशाली परम्परा और है—'सन्यास-धर्म' । अपनी सासारिकता के साथ जुडे हुए धर्माचरण से मनुष्य को सतोष नही हैं । उसे लगता है कि बहुधधी रहते हुए जो धर्माचरण वह कर पा रहा है वह अपर्याप्त है और मुक्ति की कठिन चढाई वह तभी चढ सकेगा जब कि वह साधु-सन्यासी बन जाए । इसका भी शास्त्र है । विधि-विधान है । ग्रेडेशन है—श्रेणिया हैं । धर्म किस्म-किस्म के तो साधु भी किस्म-किस्म के । उनकी वेश-भूषा भी अलग-अलग । कोई गेरुए मे है, कोई श्वेत वस्त्रधारी है, किसी के हाथ मे दण्ड है, किसी के हाथ मे कमडलु-पीछी—पादरी, विशप, आर्कविशप, महायोगी, ध्यानयोगी, एल्लक, छुल्लक, मुनिराज, आचार्य आदि कई ग्रेडेशन हैं । कोई भगवान है, तो कोई

महाप्रभु । साधु-समाज की यह हायरआरकी—श्रेणिबद्धता गृहस्थो से किसी कदर कम नही है । मानो साधु-जीवन भी विश्वविद्यालय की डिग्री हो—ग्रेजुएट, पोस्ट ग्रेजुएट, पी एच डी ! मुक्ति के कितने द्वार खोल लेने पर प्रथम श्रेणी की साधुता हाथ लगेगी, यह गणित अभी बाकी है । जो भी हो, साधु-परम्परा का मनुष्य कायल है । उसका दृढ विश्वास है कि मुक्ति-मार्ग की यह एक ऐसी मजिल है जिसे तय किये बिना आत्मधर्म सधेगा नही । पर सब तो सन्यास ले नही पाते, यह सौभाग्य कुछ को ही मिलता है ।

यहा मैं उस साधु-जमात की बात नही कर रहा जो महज वेशधारी साधु हैं । ऐसी जमात के लिए कबीर ने यह कहकर छुट्टी पायी कि 'मूँड मुँडाये हरि मिलैं, सब कोई लेय मुँडाय' । मैं उन कापालिको की भी बात नही कर रहा जो भूत-प्रेत जगा रहे है और नर-बलि व पशु-बलि मे मुक्ति ढूंढ रहे हैं । उनका श्मशान-जागरण आत्म-प्रकाश से बहुत दूर है । मैं बात तपधारियो की कर रहा हूँ, जिन्होने गृहस्थ जीवन से अलग हटकर मुक्ति की राह मे साधुता स्वीकारी है । वे नि स्पृह, निराकुल, वीतरागी हैं । वे जितेन्द्रिय हैं और अपने ही राग-द्वेष, तृष्णा, मोह से लड रहे हैं । सब तरह का परीषह सहते हुए सम्यक् तत्त्व की आराधना मे लगे हुए हैं । वे श्रद्धेय हैं, परम आदरणीय हैं, अपने-आप मे एक सस्थान हैं । उनके चरणो मे शत्-शत् प्रणाम ।

दिशा भ्रम

इस तरह महावीर के बाद, बुद्ध के बाद, ईसा के बाद—अपने-अपने अनेक आराध्य देवो के बाद मुक्ति की दिशा मे मनुष्य चलता ही रहा है । न जाने कितनी सीढ़िया अपने-अपने तीर्थों की वह चढ-उतर गया । शख-पर-शख उसने फूंके, घटिया बजायी, प्रभु के चरणो में बैठ-बैठकर मालाएँ जपी, पवित्र-पावन जल-धाराओ मे स्नान किया, साधु-सगत की,

आरतियाँ उतारीं, प्रार्थनाएँ कीं। सूर ने तो अपने पतित-पावन प्रभु से कहा कि, 'मोसौं कौन कुटिल खल-कामी'—अब तो तारो प्रभु ! पर मनुष्य नही तरा। मनुष्य की हर नयी पीढी यही कहती रही है कि उसके पुरखे अधिक मनुष्य थे। वे दयालु थे, धर्मालु थे, और अपने ईमान पर दृढ थे। इतनी प्रबल मन्दिर-परम्परा और साधु-परम्परा के बावजूद आत्मधर्म मनुष्य के हाथ से फिसल-फिसल गया है। बाहर से वह भरा है भीतर से खाली हुआ है। ये दोनो परम्परायें—पूजा-अर्चना की मदिर-परम्परा और ससार-त्याग की साधु-परम्परा अधिक व्यापक बनकर भी मनुष्य को आत्मजयी नही बना सकी।

कही ऐसा तो नही कि धर-कूच, धर-मजिल हम जिस राह पर चल रहे हैं वह मुक्ति का मार्ग ही न हो ? कही हम गुमराह तो नही हो गये हैं ? मनुष्य आज जो जीवन जी रहा है उसमे तो तृष्णा बलवान हो रही है, द्वेष पैना हो रहा है और माया पी-पी कर भी उसकी प्यास बढती ही जा रही है। प्रश्न यह भी है कि मनुष्य जीवन जी रहा है, या बटोर रहा है ? कुछ ने तो जीवन छोड दिया है और वे साधु हो गए हैं। जिन्होने जीवन छोडा नही, वे बटोर रहे है—दोनो हाथो से बटोर रहे हैं। मुक्ति के लिए तो जीवन जीना होगा—न छोडने से बात बनेगी, न बटोरने से। मुक्ति का रास्ता नेगेटिव्ह—निषेधात्मक नही है। वह पॉजिटिव्ह—स्वीकारात्मक है। जब मैं करुणा करता हूँ तो मेरी तृष्णा अपने-आप घटती है। जब मैं प्रेम करता हूँ तो मेरा क्रोध पिघलता है। जब मैं देता हूँ तो मेरा परिग्रह टूटता है और माया के पजे ढीले पडते हैं। 'वैष्णव जन तो तेणे कहिये जे पीड पराई जाणे रे'—पराई पीड मे सहभागी बनने से उसका उपकार होगा या नही, पर मेरा अहकार तो निश्चित रूप से गलेगा। लेकिन यह होगा कब, जब मैं अपने चारों ओर बहने वाले जीवन में कूदूँगा, उससे भागूँगा नहीं। यो मैं अपने चारो ओर के जीवन में रस ले-लेकर डुबकिया लगा रहा हूँ, पर बटोरने के लिए। बटोरता हूँ और दौड-

कर मंदिर में पहुंचता है कि, 'प्रभु बचाओ, मेरी भव-बाधा हरो ।' अब बचना है तो आपको खुद बचना है। जीवन जी-जी कर बचना है। जो जहां है, जिन लोगों के बीच है, जिन परिस्थितियों में है उसी में समरस होकर उसे विवेक-पूर्वक जीवन जीना है, तभी मुक्ति की साधना होगी। जीवन से कतराकर आप निकल जाएँ, तब भी बात नहीं बनेगी और जीवन से अपना स्वार्थ साधें तब भी बात नही बनेगी। शुद्ध, सही, निस्पृह जीवन जीयेंगे तो मुक्ति हाथ लगेगी। यही सम्यक्त्व है।

मुक्ति मार्ग

आत्मजयी महावीर अपने बन्द कपाट खोलते-खोलते मनुष्य का यह आत्मधर्म समझ गये थे। उन्होंने सम्पूर्ण जीवन को मुक्ति से जोडा। वे कहते हैं —

'विवेक से चलो, विवेक से खडे होओ, विवेक से उठो, विवेक से सोओ, विवेक से खाओ, विवेक से बोलो, तो फिर मनुष्य बने रहने मे कोई कोर-कसर नही।'

'इन पाच कारणो से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नही करपाता— अभिमान, क्रोध, प्रमाद, अस्वास्थ्य और आलस्य। क्रोध को अक्रोध से, अभिमान को नम्रता से, कपट को सरलता से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिए।'

'श्रेष्ठ जीवन की पाच माताएँ हैं—अप्रमत्त चल, सयत बोल, निर्दोष खा, सावधान रह, निर्मल बन।'

'मोह-माया को कृश करे, केवल शरीर को कृश करने से कुछ भी नहीं होगा।'

'आत्मा इसी शरीर में उपलब्ध है, उसका अन्वेषण कर, अन्यत्र क्यो दौडता है ?'

पर हम महावीर के निर्वाण से इतने आत्म-विभोर हैं कि उनकी जय-जयकार कर रहे हैं, उनकी बात नहीं सुन रहे हैं। वे मनुष्य को मनुष्य बने रहने की सीख देते रहे। उनकी अहिंसा पूजा-पाठ और मन्दिर की चीज़ नहीं है। मनुष्य और मनुष्य, प्रकृति और मनुष्य, प्राणि-जगत् और मनुष्य के बीच की वस्तु है—जीने की एक प्रक्रिया है। वह हमारे जीवन के एक-एक पल मे, हमारी हर सास मे, हमारे हर व्यवहार मे उतरनी चाहिए।

पर हम जो महावीर के हैं, जीवन जी ही नही रहे, जीवन बटोर रहे हैं या फेक रहे हैं और मन्दिरो मे जा-जाकर उन दरवाजो पर दस्तक दे रहे हैं जो बन्द हैं। महावीर को हमने घर से बाहर कर दिया, बाजार से निकाल दिया, मनुष्य के सामान्य जीवन से भगा दिया, व्यापार-व्यवसाय मे रहने नही दिया—हे भगवन्! आप यहा कहा? यहा तो हम रहते हैं, चलिये आप मदिर मे विराजिए। हम वही आपको पूजेगे, भजेंगे, आरती उतारेंगे, कलश करेंगे, आपकी वाणी पढेंगे। हमसे अच्छा श्रावक कौन? हम व्रत रखेंगे। बाहर तो ससार है, वहा वह सब चलेगा जो तुम्हें पसन्द नही था, जिसे तुम मुक्ति का रोडा समझते थे।

दूसरी ओर, हमारे त्यागी-तपस्वी साधुमना भी बाहर का जीवन फेककर अपने-आप मे बन्द हो गये हैं। ससार असार है, उसे बहने दो जैसा बहता है। आत्मधर्म यहा बद होकर खोजेंगे। आपकी हिंसा से, द्वेष से, मोह-माया से, दुराचरण से, धोखा-फरेबी से हमे क्या लेना-देना—हम ठहरे साधु। इन सब मे पडे तो हमारी आत्म-साधना मे बाधा पडती है।

और इस तरह हम सिमिट कर अपने-अपने घेरो मे कैद है। दो समानान्तर रेखाओ पर टूटकर चल रहे हैं। मनुष्य का ससार केवल उसके शरीर का विस्तार नही है, वह आत्मा से उतना ही जुड़ा है, जितना मनुष्य स्वय आत्मा से जुडा है। मुक्ति के साधक मनुष्य को एक-न-एक दिन अपने पूजा-घर से, अपने गेरुए से, अपनी पीछी-कमडलु से बाहर

निकलना होगा और अडिग चट्टान की भांति उस हिंसा से जूझना होगा, जो मनुष्य को लील रही है। उस वैर से निपटना होगा, जो मनुष्य को खा रहा है। उस अहंकार से लोहा लेना होगा जिसने अपने आतक मे मानवता ही चौपट कर दी है। और तभी हम अपने महावीर का निर्वाण सार्थक कर सकेंगे, मुक्ति की सही मजिल पा सकेंगे। ○○

३

महावीर की विरासत

समुद्र-भर विरासत मे से हमने कुछ सीपिया उठा ली हैं और मान बैठे है कि हम महावीर के है और उसके द्वारा सौपी विराट् विरासत के मालिक है। इससे बडी और कोई भ्रान्ति नही हो सकती। वह एक अद्भुत, अपने आप मे सहज, निपट अपरिग्रही आत्मदर्शी था—कौन-सी विरासत दे जाता ? न उसने पन्थ बनाया, न सम्प्रदाय, न उसने ग्रन्थ रचे, न परम्पराएँ बनायी। न कोई उसका मठ, न विहार, न सघ। उसने बस जीवन जीया, अन्दर का सारा कूडा बाहर फेका और भीतर के इस स्वच्छ रिक्त स्थान में सारी सृष्टि को आत्मसात् कर गया। यह जो बाहर से भीतर उतरने और भीतर-ही-भीतर आत्म-तत्त्व को देखने-परखने, उसकी शक्तियो का अन्दाज लगाने, आत्म-तत्त्व को तोडने वाले विकारो से जूझने ओर उनसे मुक्ति पाने की प्रक्रिया मे वह डूबा रहा, निखर-निखर कर ऊपर आता गया और अन्त मे अपनी इन गहरी अनुभूतियो को बिना किसी भाषा और ग्रन्थ के सहारे अभिव्यक्त करता गया—यही उसकी

विराट् विरासत है । एकदम करनी की विरासत, जो न कहने से हाथ लगेगी, न पूजने से । बोलने की तो है ही नहीं, जो कुछ है करने की है । अपने-आप में सहज होकर जीने की है ।

जितेन्द्रिय

महावीर अपने-आप से जीतता गया, इसलिए 'जिन' कहलाया । पर हम सेंत-मेत मे ही 'जैन' हो गये । जन्मते ही हमारे हाथ ऐसी विरासत लग गयी जिसे जोयें तो 'जिन' हो सकते हैं, पर हम ऐसा कुछ नही कर रहे । वह बाहर का फेंक कर भीतर गया और हम उसका ही नाम लेकर बाहर-बाहर तैर रहे हैं । भीतर तो हमारे पैर रखने को जगह नही है । उसकी विराट् विरासत बाहर टटोल रहे हैं । सदियो चल कर हमने एक विशाल इस्टेट—जायदाद महावीर की बना ली है । जिन-वाणियो की सुन्दर जिल्दें हमारे पास हैं, एक-से-एक आलादर्जा वीतरागी मूर्तिया भगवान महावीर की हमारे मदिरो मे विराजमान हैं, चमकते-दमकते कलश हैं, तीर्थ-स्थान हैं, लाखो की सख्या मे हम खुद हैं, हमारी एक परम्परा है—भक्ति की, साधना की, व्रत-उपवास की, श्रवण की, दया और त्याग की । श्रावक परम्परा है और साधु-परम्परा है । अहिंसा हमारा लक्ष्य है । पर यह सब बाहर-बाहर है, भीतर गया ही नही । महावीर भीतर के और हम बाहर के । महावीर करनी के और हम कथनी के । महावीर निर्लिप्त और हम लगे हैं पकडने मे । ऐसे मे महावीर की विरासत हमारे पल्ले पडी क्या ? इस प्रश्न का उत्तर जरूर खोजिए, महावीर निर्वाण की पच्चीसवी शताब्दी शायद सफल हो जाये !

महावीर की पहली अनुभूति तो यह है कि जीवन बाहर नहीं, भीतर है । इसलिए लौटो—बाहर से छूटो और भीतर जाओ । अपने आत्म-तत्त्व को खोजो । उन्होने एक अद्भुत प्रक्रिया की खोज की—'सामायिक' । समय याने आत्मा और सामायिक याने आत्मा में होना । यह 'ध्यान'

से एकदम अलग शब्द है। ध्यान से कोई जुडा है। मैं ध्यान करता हूं तो मेरे ध्यान में कोई और है। पर अपनी ही आत्मा में लीन होने की प्रक्रिया है 'सामायिक'—यह महावीर की खोज है। लेकिन शर्त यह है कि आप 'प्रतिक्रमण' करे। बाहर के सम्बन्धो से छूट कर अपने भीतर लौटे। अब हो उल्टा रहा है। मनुष्य बाहर से तो छूटता नही, 'सामायिक' करने लगता है, इसलिए केवल ध्यान तक पहुचता है। ध्यान किसका करेगा, वहा भी तो बाहर का ससार बैठा है। . और यो वह अपने ही भीतर नही जा पाता, क्योकि वहा जगह नही है। ससार के सारे प्रतिमानो (परछाइयो) से आत्मा घिरी है। नतीजा यह है कि मन्दिर मे जाकर, ध्यान पर बैठ कर, माला फेर कर, पूजा-पाठ मे लग कर भी मनुष्य अपने आत्म-तत्त्व से दूर है।

महावीर कहते है कि आत्मबोध के बिना दृष्टि नही आयेगी। दर्शन पहली सीढी है, ज्ञान और चरित्र इसके बाद की सीढिया हैं, परन्तु श्रावको का और साधुओ का भी सारा जोर चरित्र पर चला गया है। चरित्र के कुछ फारमूले बन गये हैं। ऐसा-ऐसा करोगे तो श्रावक रहोगे। ऐसा-ऐसा करोगे तो साधु माने जाओगे। हमारी अहिंसा ने रसोईघर सम्हाल लिया है और करुणा ने दया का रूप ले लिया है। हमारे बहुत से 'डू नॉटस' (निषेध) हैं—यह मत करो, यह मत खाओ आदि, आदि। हमे खब दया आ रही है—वनस्पति से लेकर प्राणियो तक हमारी जीव-दया चल रही है। पर महावीर रसोईघर की अहिंसा की बात कर ही नही रहे—वे उस अहिंसा की बात कर रहे जो आत्मदर्शी है। जो सारी सृष्टि मे आत्म-तत्त्व देखती है। वे उस करुणा की बात कर रहे जो पूरी सृष्टि से जुडी है। आप दु खी हैं इसलिए दया करूगा, आप गरीब है इसलिये मेरी दया उपजेगी, आपको चाहिये तो मैं दूंगा—यह महावीर की करुणा नही है। महावीर की करुणा मनुष्य के जीवन की एक चेतना है। आत्मबोध के बाद मै कुछ कर सकता हूँ, तो करुणा ही कर सकता हूँ, कुछ जी सकता हूँ तो अहिंसा

ही जी सकता हूँ । यह दृष्टि तो हमने पकड़ी नही, महज खाने-पीने और दान-धर्म की मर्यादाओ में उलझ गये हैं ।

समग्र जीवन

महावीर का धर्म टोटेलिटी—समग्रता का धर्म है । खण्डित कुछ नहीं चलेगा । मन्दिर का धर्म अलग और व्यापार-व्यवसाय का अलग ऐसा विभाजन हो ही नही सकता । आप जो सुबह हैं वही शाम हैं, आप जो धर्म-जगत् मे हैं वही कर्म-जगत् मे हैं । 'विवेक और जागरण' की मशाल उन्होने मनुष्य के हाथ मे सारे समय के लिए थमा दी । जो कुछ करो विवेक से करो, मूर्च्छा छोडकर करो, प्रमाद से बाहर निकल कर करो । पर हमने महावीर की मूर्ति तो अखण्डित रखी और अपने-आपको जगह-जगह से तोड लिया है । एक ही मनुष्य के कई बौने मनुष्य बना लिए है । मन्दिर का मनुष्य एकदम अलग है, बाजार के मनुष्य से । बाजार मे उसने झूठ, चोरी, तृष्णा, द्वेष, ईर्ष्या, सग्रह, लूट, शोषण—सब कुछ कर्म-जगत् का कौशल मानकर स्वीकार लिया है और वही वीतरागी महावीर के पास पहुँच कर कहता है—मुझे इनसे बचना है । महावीर अविभाज्य व्यक्तित्व चाहते हैं और हम बिखर-बिखर कर चल रहे हैं । महावीर के पास कोई देवालय नही था कि वहा जाकर वह धर्म साधता । वह तो आत्म-धर्म का प्रकाश लेकर पूरे जीवन मे चल पडा । यह उसकी एक क्रान्तिकारी देन है, जो हमने ली ही नही ।

इसी तरह अहिंसा के साथ महावीर ने 'अपरिग्रह' जोड दिया । बहुत गहरे गये वे इस दिशा मे । यह वस्तुओ के भोग या त्याग की बात नही है, उनसे अलिप्त होने का अभ्यास है । सन्यासी ने घर छोडा और छोडने का अहकार मन मे रह गया तो उसका छोडा और न छोड़ा सब अकारथ । वे पूरे जीवन अलिप्त होने का अभ्यास करते रहे । पर इस साधना में हम पडे ही नही । हम तो खूब-खूब पकड रहे और फिर कुछ-कुछ छोड रहे

हैं। महावीर कहते हैं न पकड़ो, न छोड़ो—सहज बनो। बे-लगाव होने का अभ्यास करो। पर हम जोड़ने में लगे हैं, जहां से जितना मिले पाने में लगे हैं। इस मामले में मनुष्य बुरी तरह हार गया है। जिसने नही जोड़ा वह इसी चिन्ता में पड़ा है कि कब पुण्य का उदय हो और वह पा ले। इस ऊहापोह मे वर्तमान उसके हाथ से खिसक रहा है और वह भविष्य मे जीने की कोशिश कर रहा है। महावीर भविष्य के हैं ही नही, वे पूर्णतया वर्तमान के हैं। उनकी अहिंसा की आधार-शिला है अपरिग्रह—अर्थात् अलिप्त होने का अभ्यास। मैंने बटोरा और छोड़ा यह एक ही क्रिया है। अभ्यास इस बात का करना होगा कि वस्तुओ के इस समुद्र मे उनसे बिना चिपके जीवन जीयें।

महावीर ने एक और महत्त्व की चीज खोजी—'स्यात्'। स्यात् यह भी, स्यात् वह भी। अभी हमारा इस तत्त्व पर बहुत ध्यान नही गया है। विज्ञान ने खोज निकाला है। सत्य के अन्वेषी को पूर्ण सत्य तक जाने मे यह तत्त्व बहुत सहायक है। हम जो देख रहे हैं, समझ रहे हैं उसमें बहुत मर्यादाएँ है। आग्रहपूर्वक अपना ही दृष्टिकोण थोपे इससे बात नही बनेगी। हमारे दुराग्रह पर और एकागी दृष्टिकोण पर अकुश की जरूरत है। ज्ञान के दरवाजे खुले रहने मे स्यात् ने बडी मदद की है। पर यह तत्त्व महावीर के अनुयायियो की कोई सहायता नही कर सका। अलग-अलग मत-मतान्तरो के कठघरो में उनका महावीर कैद है। वह स्यात् के माध्यम से मुक्ति के द्वार खोलने चला था, भक्तो ने उसे ही बन्द कर दिया।

पुरुषार्थ

उनकी अनुभूति का एक और रत्न। मनुष्य को मुक्ति प्रभु-कृपा से मिलेगी या उसके स्वय के पुरुषार्थ से ? वह भक्ति मे पडे या अपने आत्म-शोधन मे ? मनुष्य अपने प्रभु के निहोरे खाता ही रहा है। उसकी इनायत की भीख मागता ही रहा है। महावीर का आत्म-दर्शन 'जाकी कृपा पगु

गिरि लघै' के बजाय इस बिन्दु पर टिका कि मनुष्य पंगु क्यो है ? किन बातो ने उसे पगु बना दिया है ? वह अपने आप में स्थिर क्यो नही है ? महावीर को लगा कि मनुष्य हारता है तो खुद से ही हारता है। उसकी तृष्णा, उसका क्रोध, उसका बैर ही उसे पछाड रहा है। वह अपनी ही हिंसा-ज्वाला में भस्म हो रहा है। वह समझता है और कहता है कि 'माया महा ठगिनि हम जानी' और माया से जूझने के बजाय उसे अगीकार कर रहा है। ऐसे अकर्मण्य मनुष्य को प्रभु अपना सहारा कैसे देगे ? मनुष्य बाहर तो बहुत पराक्रमी बना है। नभ-थल-जल नापने मे लगा है। उसके एक-एक सकेत पर महायुद्ध भडक सकते हैं। कितने ठाठ से उसकी प्रभुता, राज्य, कारोबार, सम्प्रदाय, उद्योग-ससार, व्यापार-व्यवसाय, धर्म-सस्थान आदि-आदि चल रहे हैं, फिर भी वह पगु है। अपने-आप से ही मात खा जाता है। इसलिए महावीर मनुष्य के हाथ मे ऐसा पराक्रम थमाना चाहते थे जो उसे अपनी मुक्ति का बोध दे और शक्ति दे।

पर क्या महावीर की यह सब विरासत हम छू सके हैं। अपने मे उतार पाये हैं, उनकी बिछायी पटरियो पर चल पाये हैं ? न हम इतने पराक्रमी, परमवीर, क्रान्तिकारी आत्मदर्शी को छोड सके हैं और न ग्रहण कर सके है। तो हमने क्या किया कि अपना-अपना महावीर उठाया और अपनी ही बिछायी पटरियो पर दौड चले है। रथ में महावीर है और पहिये पर हम घूम रहे हैं—खूब तृष्णा बाट रहे हैं, परिग्रह सजा रहे हैं, स्वार्थ की चरड-चूं मचा रहे हैं और आत्मबोध तथा समाजबोध को कुचल रहे हैं। क्या वह समय नही आ गया है कि हम अपनी बिछायी पटरियो से उतर जाएँ और महावीर की विराट् विरासत को लेकर नये सिरे से चलना शुरू करे। **अखण्ड, सहज और विदेही होकर महावीर का जीवन जीयें ?**

क्या हम इसी वाटरमार्क (जल चिह्न) पर महावीर की विरासत के उत्तराधिकारी माने जाते रहेंगे कि 'हम रात में नही खाते, जैन हैं', या हमारी रूह मे यह वाटरमार्क भी उतरेगा कि महावीर का बन्दा है यह—'झूठ नही बोलेगा, क्रोध-कपट नही करेगा और माया नही जोडेगा।'

○○

४

बेचारा पुण्य !

ढाई अक्षर का छोटा सा शब्द 'पुण्य' अब ऐसी जमात का सिरमौर है, जो वैभव में डूबी हुई है। वह उस बारात का दूल्हा है, जिसके बाराती हैं—जमीन-जायदाद, धन-सम्पदा, पद-सत्ता और बेशुमार वस्तुएँ। मेरे बाबा उसे ही पुण्यात्मा कहते थे जिसके साथ अपार सम्पदा, सुविधाएँ और हुकूमत जुडी हो। यो वे अपने जीवन मे सरल, सादे, परिश्रमी, सयमी और बिना आडम्बर के थे। स्वार्थ से अधिक उन्हें परहित की चिन्ता थी, फिर भी वे पुण्यात्मा तो उसे ही मानते थे जिसके पास ससार को खरीदने की ताकत है। कई पीढ़ियो से लगातार ऐसा ही सोचने की हमारी आदत बन गयी है। घर मे दाम बढ जाना भाग्योदय है, अभाव दुर्भाग्य की निशानी है। हमारे सत, धर्म-गुरु, विचारक, तीर्थंकर और पैगम्बर कुछ दूसरी ही बात कह गये। उन्होंने बहुत खोज की, साधना की और मनुष्य को भीतर से देखा-परखा तथा वे इस नतीजे पर आये कि आत्मा के साथ यदि कुछ जोडा जा सकता है तो वह धन, सत्ता, लोभ, स्वार्थ, हिसा, द्वेष

से अलग कुछ और चीज है। ईसा मसीह ने तो यहा तक कह डाला कि 'सुई की नोक में से ऊँट का निकलना संभव है, लेकिन धनपति के लिए स्वर्ग अप्राप्य है।' वे बहुत कड़वा सत्य कह गये–फिर भी मनुष्य की आस्था धन-सम्पदा-सत्ता पर से नही उठी, बल्कि अधिक दृढ़ हुई है।

आत्मा के गुण

जैसे-जैसे शरीर-बल के मुकाबिले आत्मबल की श्रेष्ठता साबित हुई हमारे मनीषियो ने आत्मा के गुण खोजे और यह स्वीकारा कि मनुष्य अपनी मित्रता सादगी, सयम, अपरिग्रह, निर्बैर , क्षमा, प्रेम आदि सद्गुणो से रखेगा और उन्हे आचरण मे उतारेगा तभी वह पशुता से बाहर आ सकेगा। कमोवेश सब धर्मों के सब धर्म-गुरु इसी नतीजे पर पहुचे हैं और अब यह सर्वमान्य निष्कर्ष है कि मनुष्य का आधार उसकी आत्मा है, शरीर नही। आत्मा को ऊँचाई देने वाले गुण खोजे जा चुके हैं और उस सम्बन्ध मे कोई दो रायें नही हैं। फिर भी मनुष्य आत्मोदय की आराधना से हटकर शरीर की सुख-सुविधा जुटाने में ही लगा हुआ है। जिसके पास सुख-सुविधा के साजो-सामान जुट गए है, वह तो अपना भाग्य सराहता ही है, जिसके पास नही हैं वह अपने भाग्य की हीन-दशा से उबरने की कोशिश मे लगा है। साथ ही, भीतर-ही-भीतर ललचायी आंखो से दूसरो के भाग्योदय को देखता रहता है—इस ऊहापोह मे अनजाने ही या तो ईर्ष्या को पालता है या हीन-ग्रथि का पोषण करता है।

मनुष्य की खोज आत्मबल की हिमायती है। आत्मा का साथ देने वाले सद्गुणो का गुणगान हमारे धर्म-ग्रथ और नीति-ग्रथ करते है। हमारे सारे आराध्यदेव सम्पदा के नही, त्याग के प्रतीक है। हमने अपनी-अपनी आराधना का आधार करुणा, दया और सदाचारी वृत्ति को माना है। साथ ही, मनुष्य जीवन की यह रीढ अच्छी तरह समझी गयी है, परखी गयी है। पूरे जीवन मनुष्य यह कहता रहता है कि अन्ततोगत्वा जाना उसे

इसी दिशा मे है, लेकिन हमारे पैर विपरीत रास्ते के राही बन गये हैं। हमारा सुप्त मन, हमारी भीतरी आकांक्षा, हमारे दबे हुए अरमान हमें और कहीं ले गये हैं—सतत ले जा रहे हैं। नज़र दौडायें तो पायेगें कि आत्मबल का जपन करते-करते हम पूरी तरह अपनी ही पाशविक वृत्तियो की गिरफ्त मे हैं। मनुष्य अपनी इस लाचार अवस्था को स्वीकार ले तब भी रास्ता निकल सकता है—लेकिन दुविधाजनक स्थिति यह बनी है कि पशु-बल का पोषण करने वाले तत्त्व मनुष्य की पुण्य-उपलब्धि मान लिये गये हैं।

विचित्र बात यह है कि जैन लोग भी इस चक्र मे उलझ गये—यदि यह कह दूं कि ज्यादा ही उलझ गए है तो ज्यादती नही होगी। जैन फिलॉसाफी 'कर्म' और 'कर्म की गति' मे आस्था रखती है। "जाकी कृपा पगु गिरि लघै" पर ध्यान देने के बजाय जैन फिलॉसाफी ने मनुष्य की आस्था को कर्म पर टिकाया है, लेकिन विरोधाभास देखिए कि आत्मा को कलुषित करने वाली, उसे अपने धर्म से डिगाने वाली सारी सासारिक वस्तुएँ पुण्य का प्रतिफल हैं और पुण्यात्मा अपने सुकर्मों के परिणाम-स्वरूप उनका उपभोग करने का अधिकारी है—यह मान्यता इतनी दृढ़ बनी है कि लफंगा पैसा पुण्योदय का प्रतीक बन बैठा है। पाप मार्ग से आकर भी बैठता वह पुण्य की गोद में ही है। बढे हुए दाम, बढी हुई सम्पदा, वस्तुओ का अम्बार, ऐशोआराम की चीजें समाज-जीवन मे प्रतिष्ठित हैं, यह तो समझ मे आता है। सत्ताधारी पूजा जाता है, यह भी समझ सकते है, परन्तु ये उपलब्धिया पुण्याई (पुण्य का प्रताप) हैं, ऐसा कहकर हम अपनी ही फिलॉसाफी की जड काट रहे है। यह सब पुण्याई है तो फिर 'पापाई' (पाप का प्रताप) क्या है? निश्चय ही हम साधुता, सादगी, सेवा, त्याग, परहित-भावना और अपरिग्रह वृत्ति को 'पापाई' नहीं कहेंगे। ये सब सद्-गुण तो हमने आत्मा के माने हैं, इनकी साधना को हमने 'आत्मोदय' की संज्ञा दी है। ये सब आत्मबल को ऊँचा उठाने वाले उपकरण हैं। अब आप इन्हें 'पापाई' की रेलगाडी से नहीं जोड सकते। उधर पुण्याई की रेल मे

हमने सारा वस्तु-ससार लाद दिया है। और मनुष्य स्वय इस पुण्य की रेल का शानदार मुसाफिर है। जिनके साथ वस्तु-संसार जुड गया है वे पुण्य की जयमाला लिये घूम रहे हैं और उनकी प्रशस्ति मे वे भी लगे हैं, जिन्हें यह पुण्य उपलब्ध नहीं हैं।

पाप-पुण्य की परिभाषा

अब जरा पुण्य के परिप्रेक्ष्य मे यह भी देख लें कि 'पाप' की हमने क्या गत बनायी है। मनुष्य की वस्तुहीनता, पदहीनता, अभाव, सासारिक कष्ट 'पापोदय' की सूची में जुड गये हैं। पापोदय न भी कहें तो दबी जबान से हम इसे भाग्यहीनता तो कह ही देते हैं। गरज यह कि सद्भाग्य या पुण्य का प्रतीक पैसा है और दुर्भाग्य तथा पाप का प्रतीक दरिद्रता है। जो साधु जीवन जीता है, अपने चारो ओर लपझप करने वाली समृद्धि मे स्थितप्रज्ञ रहने की साधना करता है, निर्लोभ, निर्वैर, प्रेम तथा करुणा की आराधना करता है, अन्याय सहन नहीं करता, न्याय के लिए जीवन उत्सर्ग करता है और हर क्षण सदाचारी रहने की कोशिश करता है, ऐसे अति साधारण जन का अभागा जीवन अप्रभावी है, क्योंकि उसके पास पुण्याई नही है। अब इस तरह के कष्ट-साध्य जीवन की आकाक्षा कौन करेगा? मनुष्य की नयी पीढी निश्चित रूप से पुण्याई बटोरने में ही लगेगी, बल्कि लग चुकी है। दोनों हाथ लड्डू—पुण्य भी और सुख-सुविधा भी।

हमारी स्वर्ग की कल्पना भी सम्पदा-आधारित है। वहां शरीर को आराम देने वाली सब वस्तुएँ सहज उपलब्ध हैं और श्रम कुछ नही। यहां भी हमे ऐसी ही व्यवस्था चाहिये—वही पुण्याई जो सुख-सम्पदा, आराम, प्रतिष्ठा और वस्तु-भडार से जुडी हो। मरणोपरान्त भी हमे वही स्वर्ग चाहिये जहा करना कुछ न पडे और सारे ठाट-बाट, ऐशोआराम उपलब्ध हों। इस तरह लौकिक तथा पारलौकिक जीवन के लिए मनुष्य ने बहुत ही सरल मार्ग अपना लिये हैं। लौकिक जीवन पुण्य की छत्रछाया मे पोषित

है—फिर जितना सुख, जिस तरह मिल जाए पुण्य का प्रताप है, भाग्योदय है—बेधड़क बेरहमी से उपभोग करने का लायसेन्स मिल जाता है। पारलौकिक जीवन के लिए धर्म-साधना है ही। पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन, उपवास-व्रत निरतर चलता है—यही हमारा धर्माचरण है। कर्माचरण लौकिक सुख के लिए, धर्माचरण पारलौकिक सुख के लिए। इसीलिए मनुष्य के सुकर्म या कुकर्म धर्म से नही बधे हैं। समूचे धर्माचरण को समाज-जीवन से कुछ लेना-देना नही है। मनुष्य के समूचे जीवन का इतना सरलीकरण कभी नही हुआ।

प्रश्न है कि जिस राह पर आज का मनुष्य चल पडा है क्या उससे वापस लौटने का समय नहीं आ गया है? हम बात आत्मबल की करते रहेंगे और आराधना शरीर-बल की करेंगे? **हमारा पुण्य किस चीज का सिरमौर बनेगा?** धन-सम्पदा का या त्याग का, सत्ता-अधिकार का या कर्त्तव्य-निष्ठा का, भोग का या सयम का, वस्तुओ के अम्बार का या अपरिग्रही वृत्ति का, सादे जीवन का या ऐश्वर्य वाले जीवन का, परिश्रम का या आराम का? सभवत मनुष्य को नये सिरे से इन प्रश्नो के उत्तर खोजने की जरूरत नही है। उत्तर तो उसने साफ-साफ सोचकर धर्मग्रथो और नीति-वचनो मे लिख लिये है। उसे मालूम है कि मनुष्य की सच्ची राह कौन-सी है। शायद मनुष्य के वर्तमान जीवन मे अधिकाश कष्ट इसीलिए पैदा हुए हैं कि उसका पुण्य गलत रेलगाडी मे सफर कर रहा है। और इसी तरह पुण्य की प्रतिष्ठा यदि धन-सम्पदा, ऐश्वर्य और सत्ता अधिकार के साथ जुडी रही तो मनुष्य और गहरे अधकार मे भटकेगा।

○○

५

पाप प्रसन्न है !

इसलिए कि मनुष्य ने उसे छिपने के लिए अपना हृदय ही सौंप दिया है। एक ऐसा किला जिसमे किसी और का प्रवेश नहीं हो सकता। मजा यह है कि पाप जिस गोद में जन्म लेता है, उसी गोद में अपना सिर छिपा पा रहा है, इससे अच्छा और क्या करिश्मा चाहिए ? मनुष्य को पाप से बचाने के लिए समाज ने बहुतेरे बन्धन लगाये है, बहुत से उपकरण खडे कर लिये है—कानून है, व्यवस्था है, न्याय-विभाग है, दड-विधान है, लेकिन मनुष्य पाप से बचने के बजाय इन उपकरणो की पकड से बाहर होने की कला सीख गया है। कुछ अभागे नौसिखिए ही इनकी गिरफ्त मे आ जाते है, चतुर आदमी तो साफ बच निकलता है और अपना पाप खुद अपने ही पेट मे पचा जाता है। इस बचाव-अभियान में मनुष्य के आला दरजे के दिमाग लगे हुए हैं, जो घिनौने हत्यारो को भी कानून की गिरफ्त से साफ-साफ बचा ले जाते हैं और अपने इस चतुर धधे के कारण वे समाज के गणमान्य लोगों में गिने जाते हैं। **मनुष्य की इस करामात पर पाप प्रसन्न है।**

पाप किसे कहेगे ?

पाप को मनुष्य की इस चतुराई पर भी नाज है कि उसने कुछ बातें पाप की जमात से ही बाहर निकाल ली हैं और उन्हें व्यापार-व्यवसाय की कुशलता मे शरीक कर लिया है। मिलावट करना अब कौन पाप है ? शोषण व्यापार का एक सफल तकनीक है, रिश्वत ले-देकर झूठे काम बना लेना व्यापार-कुशलता है। नफाखोरी, सग्रहवृत्ति, महगाई, भ्रष्टाचार— सब इसी कुशलता की मोहरे है। परिणाम जो हो, मनुष्य मरता हो तो मरे, पाप को मजा आ गया। वह खुले आम समाज पर छाया हुआ है, बल्कि सफलता की रौनक अपने चेहरे पर पोते हुए है। रह गये वे पाप जो चतुराई की जमात मे नही बैठते, उन्हे मनुष्य ने अपने हृदय में ही शरण दे दी है।

एक और काम मनुष्य ने कर लिया है। उसे यह सतोष रहना चाहिए कि वह पापाचरण से बचने की साधना मे लगा हुआ है, अत उसने कुछ सतही पाप ढूँढ लिये हैं। एकदम सतह की बाते, जिनसे आप बच जाये तो अच्छा ही है, पर नही बच पाये तो कोई खास हानि नही होती—न आपकी, न समाज की। मनुष्य के अपने-अपने कुछ खाने-पीने के नियम है, व्रत-उपवास की सीमाएँ है, देवी-देवताओ के पूजा-पाठ की विधिया है—कुछ ऐसी ही और निजी आचरण की बाते जिनका निभाव हो गया तो अच्छी बात है, पर नही हो पाया तो आप पाप मे पड गये, इसे जरा समझने की जरूरत है! जिन आचरणो से समाज जीवन टूट रहा है, मनुष्य स्वय टूट रहा है, उसकी आत्मा डूब रही है, उन्हें आप पाप की पक्ति मे बैठायेगे कि महज खाने-पीने, पहनने-ओढने या पूजा-पाठ की विधियो को पाप-पुण्य की कसौटी पर चढायेंगे ? आपने बढिया शोध कर खाया और अपनी व्यावसायिक कुशलता मे कुछ ऐसी मिलावटें कर दी कि कई की जानें चली गयीं—ग्लूकोज-काड अभी आप नही भूले होंगे, तो पाप किसमे समाया

हुआ है ? मनुष्य को लाचार निरीह पशु के समान बना देने वाले हमारे आचरण पाप की परिभाषा मे आयेंगे कि हमारे एकादशी-अष्टमी-चतुर्दशी के व्रत-उपवास से पाप का ताल्लुक है ? उत्तर देने की जरूरत है ? मनुष्य ने सतही पापो से बचने में ही अपनी शक्ति लगा रखी है। जो पाप जीवन-व्यवहार मे गहरे धँस गये हैं और जिनके कारण समूची मानवता ही परास्त हो रही है, उनके प्रति हमने आखे भीच ली हैं।

पाप की प्रसन्नता का एक और कारण है। पाप फूला नही समा रहा है, क्योकि मनुष्य ने उसके ही दूतो को पुण्य की प्रतिष्ठा प्रदान कर दी है—आपके पास सासारिक वस्तुओ का अम्बार है तो आप सुखी है और आप पुण्य के स्वामी है। कर्म जो हो, जैसे रहे हो—प्रतिष्ठा यदि धन-सम्पदा, सत्ता-अधिकार, ऐश्वर्य और वैभव को प्राप्त है तो पाप पुण्य बनकर अपनी गर्दन ऊँची किये घूमता है। उसे छिपने की जरूरत ही नही है। सिर्फ अपना सबध धन से, सत्ता से और अधिकार से जोड भर लेना है। पाप का रग ही बदल जाता है, वह पुण्य दिखायी देता है। यह जो गोगा-पाशा जैसा जादू है उससे पाप बेहद प्रसन्न है।

उसने सोचा ही नही था कि मनुष्य अपना सर्वोत्कृष्ट आवास 'हृदय' ही उसे सौंप देगा। महावीर, बुद्ध, ईसा, गाधी ने चाहा था कि मनुष्य अपने हृदय मे पूरे विश्व के प्राणि-जगत् को स्थान दे, भूत-दया पाले, सबसे प्रेम करे, अपने करुणा रस से सबका सिचन करे और यो अपनी आत्मा को ऊँचा उठाये। यही मनुष्य के जीवन की तर्ज है। पर मनुष्य बडा चतुर निकला। उसने भूत-दया के नाम पर कुछ ऊपर-ऊपर की बाते अगीकार कर ली हैं। राह चलते-चलते वह बडे दयाभाव से भिखारी के कटोरे मे एक छोटा सिक्का डाल देता है और कुत्ते को दो रोटी। कुछ हैं जो इससे आगे बढ़कर कुछ अधिक दान-दक्षिणा दे देते हैं। चूसते हैं तो थोडा देते भी हैं। जैसे पीतल की काया पर सोने का मुलम्मा चढा दिया हो। मैं उन मुट्ठी भर साधको की बात नही कर रहा जिनका हृदय मनुष्य की, प्राणि-

मात्र की सेवा के लिए न्योछावर है। उनके हृदय में बेचारे पाप को पनाह लेने की जगह ही कहां है ? लेकिन दुनिया ऐसे लोगों को आदमी ही नहीं मानती। वह एक ऐसी जमात है जिसके हाथ मे न समाज है, न समाज का कारोबार। पाप को ऐसे लोगो से कोई भय नही। वे दुनिया में रह आये तो ठीक, न रह आये तो ठीक। भले लोगो की इस निष्क्रियता पर पाप मुसकरा रहा है। वे बुरा बोलते नही, बुरा देखते नही, और बुरा सुनते भी नही। समाज के ड्राइंग रूम के ये सुन्दर खिलौने है—सजावट की वस्तु। पाप उन्हें झुक कर नमस्कार करता रहता है।

गुमराह

इस तरह मनुष्य बहुत मुसीबत मे है, उसका पुण्य गलत रेलगाडी मे सफर कर रहा है और पाप उसके हृदय मे ही बस गया है। उसे अच्छा लगता है कि हिकमत के कारण उसके किए पाप उस तक ही रह जाते है और कोई उन्हे जान नही पाता। इस कला मे जो जितना माहिर है, वह उतना ही प्रतिष्ठावान। अभी जगलो-पहाडो मे बसने वाला आदिवासी इस कला को नही सीख पाया है। भावावेश मे बेचारा कुछ कर बैठता है तो खुद ही थाने पर पहुँच कर साफ-साफ कह देता है। मनुष्य की आधुनिक सभ्यता अभी उस तक नही पहुँची है, हौले-हौले पहुँच रही है। वह भी सीख जाएगा। धीरे-धीरे यह जमी भी आसमा हो जाएगी। मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, धर्म-नीति, राज्य, उद्योग, उपकरण और साधनो की दुनिया मे आश्चर्यजनक प्रगति की है फैलाव किया है और उपलब्धिया हासिल की हैं। पर इस भूल-भुलैया मे उसका विवेक खो गया है। विज्ञान की सहायता से वह न जाने कैसी-कैसी जानकारी प्राप्त करने मे सफल हुआ है—नभ की, थल की और जल की। उसकी देखने और जान लेने की ताकत लाखो गुना बढी है—एक सेकण्ड के लाखवे हिस्से की भी हलन-चलन उसकी पकड मे है। **पर समाज जीवन मे बिंधे हुए मनुष्य के पापा-**

चार उसकी पकड़ से बाहर हैं—मनुष्य ही उन्हें कर रहा है, देख रहा है, भुगत रहा है और उसने अपना समूचा जीवन मुसीबत-खदा बना लिया है, पर पाप उसकी पकड से बाहर है। मानो वह कोई कैंसर हो—फैल-फैल कर उसने मनुष्य के रक्त की क्वालिटी (गुणात्मकता) ही बदल दी है।

फिर भी अपनी हिकमत से, चतुराई और कुशलता के नाम पर मनुष्य कितनी ही ऊँची उडानें भर ले, एक न एक दिन उसे धरती पर ही अपने पैर रखने होंगे। वह अपने ही भार से टूट रहा है। उसका हृदय खुद बगावत करेगा—पाप बेचारा कितने दिन वहां टिक सकता है ? पापाचरण कब तक समाज मे व्यवहार-कुशलता का ढोग रचता रहेगा ? झूठ-फरेब, धोखाधडी, शोषण, हत्या, डाकाजनी, क्रूरता, दुष्टता, भ्रष्टाचार और अन्याय मनुष्य के अलकार नही है, छिप-छिप कर धारण करते हुए भी मनुष्य स्वय इनसे कतरा रहा है। यह उसकी लाचारी है, पसन्दगी नही। पाप आज कितना ही प्रसन्न हो ले, कल उसे सिर छिपाने को जगह नही मिलेगी—केवल मनुष्य के करवट लेने की देर है। तब मनुष्य कहेगा—बुरा देखो—सहन मत करो, बुरा सुनो—विरोध करो और बुरा कोई बोले तो चुनौती दो। ○○

६

जीवन एक बन्द पुस्तक !

चौंकिये नही, यह एक हकीकत है, एक ऐसी वास्तविकता, जिसे हम स्वीकारना नही चाहते। हम कहते तो यह है कि 'जीवन एक खुली पुस्तक हो', जिसे सब पढ सके। कोई दुराव-छिपाव नही, झूठ-फरेब नही—जो मैं हूँ उसे आप जाने। पर गाधी जैसे कुछ महापुरुषो को छोडकर मनुष्य ने रास्ता इससे ठीक उल्टा ले लिया है। उसकी जीवन-पुस्तक बन्द है, जिसे पढने से वह खुद भी कतरा रहा है। गाधीजी ने तो बहुत मजे-मजे मे एक बालिका की हस्ताक्षर पोथी पर लिख दिया था कि—'आमार जीवन आमार सदेश'—मेरा जीवन ही मेरा सदेश हे, अर्थात् जो मैं करता हूँ वह बोलता हूँ, और जो बोलता हूँ वह करता हूँ। करनी और कथनी के अतर को मिटा देने वाला वह एक सच्चा मनुष्य था। यो मनुष्य पीढी-दर-पीढी हजारो वर्षों तक सत्य का ही उपासक रहा है। कोई धर्म ऐसा नही जिसमे सत्य की उपासना न हो, कोई नीति—एथिक्स ऐसा नही जिसे सत्य के आस-पास न गूँथा गया हो। यहां तक कि सब देशो मे कानूनो का सारा ताना-

बाना सत्य के ही इर्द-गिर्द रचा गया है। सत्य मनुष्य के जीवन का मूलाधार है। ससद् भवनो से लेकर पुलिस थानो तक, महाकाय उद्योगो से लेकर परचूनी की मामूली दुकानो तक और विश्व-विद्यालयो से लेकर टाटपट्टी वाली शालाओ तक एक ही आवाज गूँजती है कि—"मैं जो कुछ कहूँगा सच-सच कहूँगा और सच के अलावा कुछ नही कहूँगा।" यहा तक कि हमने अपने राष्ट्रीय एम्ब्लेम (राज्यचिह्न) मे **'सत्यमेव जयते—सत्य की ही विजय हो'** लिखा है। शासकीय कागज के हर सिरे पर चमकती हुई स्याही से हम लिखते हैं—सत्यमेव जयते।

मुलम्मा

पर जीवन पुस्तक बन्द है। आपकी मै नही पढ सकता, आप मेरी नही पढ सकते। भीतर झाकना मना है—नो एडमिशन। आपको देखना ही हो तो महज आवरण देख सकते है। तरह-तरह के आवरण। एक से एक लुभावने, आकर्षक, लेटेस्ट डिजाइन वाले। पुस्तक भीतर से बन्द है उसे पढकर क्या करियेगा? आवरण मे बहुत सुविधा है। कई बार बदलिये, जब जिस तरह के आवरण की जरूरत हो लगा लीजिये। साधु समाज मे जाना हो जरा सादा आवरण चढा कर जाइये, शादी-विवाह का मौका हो तो जरा भडकीला आवरण लीजिये। व्यापार-व्यवसाय, राजनीति, धर्म-साधना, मौज-शौक, गप्पा-गोष्ठी, स्वजन-परिजन, कोर्ट-कचहरी, बीसियो काम मनुष्य के साथ लगे है—हर मौके का अलग-अलग आवरण। जहा जिस तरह की जरूरत हो मनुष्य वैसा दीखना चाहता है। महज पुस्तक मे ऐसी लोच कहा! उसमे तो आपकी करनी के और कथनी के अक्स ज्यो के त्यो उतरते चले आते है। अब अपने काम के ऐसे एक्सरे कौन उजागर करना चाहेगा? इसलिए मनुष्य ने इसी मे अपनी भलाई मान ली है कि वह अपनी जीवन पुस्तक बन्द ही रखें और उसे पेश करने के आवरण जुटाने मे अपनी शक्ति लगाये। खूबी यह है कि जिसके पास

जितनी तरह के जितने आवरण उतना ही उसका जीवन समृद्ध। बस एक ही चतुराई मनुष्य को बरतनी है कि आवरण जीवन-पुस्तक पर इस तरह चढाया जाए कि वह भोडा न लगे, कोई यह न समझ ले कि आवरण चढा है (ग्रो यह सब जानते हैं कि पुस्तक तो बन्द है—जो पेश है वह महज आवरण है) और पुस्तक आवरण के लायक है ही नहीं।

मनुष्य की सामाजिक दृष्टि भी ऐसी सध गयी है कि वह सिर्फ आवरण देख कर ही सतुष्ट है। होगी आपकी पुस्तक भीतर से कोरी, धब्बेवाली, काट-छाट वाली, अपनी कर्त्तव्यहीनता के कारण कुछ नही लिख पाये होगे आप—कोई गिला नही, मनुष्य की आख उतना भीतर का देखती ही नहीं। आखो मे बस जाने वाला आवरण-भर जुटा लिया है आपने तो बस काम हो गया। भीतर उतरने की जरूरत ही नही रह गयी है। मनुष्य को जीवन जीने का एकदम सरल, चलतू नुस्खा मिल गया है। वह खुद भी अब अपने गिरेबान मे झाकना नही चाहता। आवरण की चटक-मटक से और ऊपरी प्रभाव से वह स्वय भी मुदित है, समाज तो है ही। मनुष्य की चिन्ता का विषय अब यह नही है कि उसने अपनी पुस्तक के कितने सफे लिखे या गलत लिखे हुए मिटाये या भोडे ढग से लिख गये सुधारे, उसकी चिन्ता का विषय यह है कि वह जो दीखना चाहता है वैसा दीख पा रहा है या नही। कौन-सी कीमिया उसके हाथ लगे कि वह अपनी चाहत का रग अपने जीवन पर चमका सके। इसलिए वह अपनी पुस्तक लिखने के फेर मे कतई नही है, न ही उसे गलत लिखे सफे दुरुस्त करने की फिक्र है, वह तो इस तकनीक की खोज मे, उधेड-बुन मे दिन-रात लगा हुआ है कि करना-धरना कुछ पडे नहीं और रग चोखा हो।

पलायन

बात यह है कि अपने गिरेबान मे उतरने मे, अपने जीवन को भीतर से देखने-परखने-समझने मे बहुत खतरा है, ऐसा मनुष्य ने मान लिया है।

क्योंकि, जब वह अपना, अपने स्वभाव का, मनुष्य के कर्तव्य का, मनुष्य के साथ प्रकृति के सबध का, मनुष्य के साथ विश्व व विश्व के प्राणि-जगत् के सबध का, मानव-धर्म का और जीवन के उच्चादर्शों का विचार करता है तो उसे अपनी जीवन-पुस्तक के कई पृष्ठ खारिज करने की बात समझ मे आती है। उसे लगता है कि उसे नये सिरे ने बहुत से नये सफे लिखने होगे। एक दोहरी जिम्मेदारी— जिसे गफलत में लिख लिया, उसे मिटाना या सुधारना और जो अब तक नही लिखा जा सका उसे लिखना, अर्थात् जीवन की तर्ज बदलना। इसमे बहुत खतरा है। उसे बहुत-सी बातें, बहुत से काम जो वह कर रहा है, छोड देने होगे और कुछ ऐसे कष्ट उठा लेने होगे जिनसे वह अब तक कतराता आया है। इस झझट मे मनुष्य पडना नही चाहता। यह बहुत पित्ता मारने की बात है, लालच से—स्वार्थ से जी हटाने की बात है, आरामदेह जिन्दगी को छोड कर मेहनत-भरी जिन्दगी जीने की बात है, यश-प्रतिष्ठा-सम्मान के हिंडोले से उतर कर कडी जमीन पर चलने की बात है, समाज के बहते हुए प्रवाह से अलग हट कर चुपचाप अमानेता कष्ट वाला जीवन जीने की बात है। **इसलिए मनुष्य खुद अपने से ही कतरा रहा है,** वह स्वय अपनी जीवन-पुस्तक नही पढना चाहता। उसे बन्द रखने में ही वह अपना भला देख रहा है। मैं यहा मनुष्य को आरामतलब प्राणी घोषित नही कर रहा। उसने बहुत-बहुत कष्ट झेले है। नभ, थल, जल की गहन गहराइयो मे गोते लगा कर वह बेशुमार रत्न खोज कर लाया है। मनुष्य के जीवन को उसने चारो ओर से देखा-परखा है तथा बढिया जीवन जीने की कीमिया खोज-खोज कर लाया है। इसके लिए वह कृशकाय हुआ है, मर-मर कर जीया है और ऐसे मानव-रत्नो के आगे मनुष्य सौ-सौ बार नतमस्तक है। आज भी जिस कष्ट-साधना को समाज मान्यता देता है वह कष्ट मनुष्य अपना दीदा मारकर प्रसन्नतापूर्वक झेलता है। क्या बहुत से लोग एक-एक माह के उपवास नही कर जाते ? सूर्य की तपन मे धनी नही रमा जाते ? शरीर कष्ट उठा

लेने में मनुष्य का कोई सानी नही ! इच्छापूर्वक धर्म की साधना में लीन हमारा साधु-समाज तथा बहुत-सा गृहस्थ समाज क्या कम कष्ट झेल रहा है ? इसलिये मैं यह कहूँ कि मनुष्य आरामतलब है, उचित नही होगा। अपनी आत्म-साधना के लिए शरीर का कष्ट उठाने की बात इस देश को सिखाने की जरूरत नही है। बस एक ही शर्त है कि जो भी वह करे वह समाज-मान्य हो। मनुष्य को सब कुछ स्वीकार है, अमानेता जीवन स्वीकार नहीं है। साधु-जीवन को यदि समाज मान्यता न दे तो शायद हमारे बहुतेरे साधु उस मार्ग पर जायेगे भी नही। यही मनुष्य की सर्वाधिक कमजोर कड़ी है ।

इसलिए मनुष्य अब अपने-आपको भी नही देखना चाहता, न वह चाहता है कि उसकी दुखती रगो को आप देखे। भलाई इसी मे मान ली गयी है कि आप भी मेरी पुस्तक नही पढिये, मैं भी आपकी नही पढ़ूँ। मेरा आवरण आप सराहिये, मैं आपका सराहूँ। और इस तरह मनुष्य अपनी ही कथनी से, अपनी ही खोजो से बहुत परे हट गया है। आवरण के नीचे छिपा जीवन कूडे का ढेर होता जा रहा है, मालूम नही रोजमर्रा वहा क्या-क्या दर्ज हो रहा है, ऐसी-ऐसी बाते ज्यो-की-त्यो अक्स की तरह उतर रही है जो मनुष्य के लायक नही है। अपनी ही जमात की कुछ जघन्य बाते मनुष्य जब समाचार के रूप मे पढता है या जानता है तो उसे महान आश्चर्य होता है, पीडा होती है, लेकिन मानव के लिए वर्जित कार्य दिन रात हर मनुष्य से हो रहे है और खूबी यह है कि वे चुभते नही। चुभता है उनका प्रकट हो जाना। इसलिए मनुष्य ने अपनी सारी सिफत, सारी अक्ल, सारा तकनीक, सारा ध्यान इस बात पर केन्द्रित कर दिया है कि जो उसके हाथो मे हो रहा है वह प्रकट न हो। उसने अपने हाथ मे दो तरह के काच (यंत्र) ले लिये हैं—एक है जो राई भर अच्छे कामो को वृहदाकार करके पेश करता है और दूसरा है जो बुरे कामो को छिपा लेता है—ग्राउण्ड

ग्लास—भीतर क्या हो चुका है या होने जा रहा है सब छिप जाता है। जीवन पुस्तक पर समय-समय चढने वाले आवरणो की यही खूबी है। वे अपने उन रगो को चमका रहे हैं जिन्हें चमकाने की जरूरत ही नहीं है और उन धब्बो को छिपा रहे है जिन्हें धोकर मिटाने की जरूरत है।

मनुष्य की महक

पर जरा सोचिये, यह कोई अधिक लम्बी दूरी तक साथ देने वाला मार्ग है ? हो सकता है आपकी-हमारी जिन्दगी तक मनुष्य इसी राह पर चलता रहे। कई पीढियो से चलता आ रहा है तो और भी कई पीढिया इसी रास्ते से गुजर जायेंगी। पर कभी आप जब चिंतन के मूड मे हो तो आपको ऐसा नही लगता कि हमारे ये आवरण जो ढेर-के-ढेर हरेक के पास है स्वय अपने ही बोझ से नष्ट हो जायेगे और यकायक मनुष्य की जीवन-पुस्तक निरावरण हो जाएगी ? **दीवारों पर पुतने वाली चूने की कलाई एक लम्बे समय के बाद अपने ही बोझ से परतों के रूप में खिरने लगती है।** मनुष्य को आज नहीं तो कल अपनी जीवन-पुस्तक खुली करनी होगी। यह बात उसे बहुत पहले समझ मे आ गयी थी और इस जीवन सत्य को उसने अपने नीति-वचनो मे जोड लिया था कि—'जीवन एक खुली पुस्तक हो'। कोई-कोई गर्व से कह भी बैठता है कि "माइ लाइफ इज एन ओपन बुक—मेरा जीवन एक खुली पुस्तक है।" पुस्तक खुलेगी नही तो माजी कैसे जाएगी ? सँवारी कैसे जाएगी ? उसके सफे सुधारे कैसे जाएँगे ? गलत कारनामे खारिज कैसे होगे ? अच्छे कारनामो के नये सफे जुडेंगे कैसे ? जीवन कोई कागद तो नही है कि नही लिखा जाए तो कोरा ही रह जाए। आप कुछ लिखें या न लिखे, जीवन अपनी हरकते रोज अपने रोजनामचे मे दर्ज कर रहा है। आवरणो की क्या हस्ती कि वे जीवन का रोजनामचा कायम के लिए छिपा ले जाएँ। आवरण टूटेंगे और जरूर टूटेंगे। मनुष्य के हाथ ऐसा युग लगेगा जब वह बहुत प्यार से, विश्वास

से और सहानुभूति से अपने पड़ोसी की जीवन-पुस्तक पढ़ेगा और उसमे पड़े धब्बे अपने हाथ से मिटायेगा—मैं आपकी पुस्तक सुधारूँगा, आप मेरी। यही मनुष्य की जीवनदायिनी शक्ति है—आपकी राह के कांटे मैं बीनूं और आप मेरी राह के कांटे बीनें। कांटे छिपा देने से राह नही सुधरती। आज तो मनुष्य का जीवन भीतर से बेशुमार कांटो से घिर गया है। बाहर उसने खूब फूल उगाये हैं—चमकदार, रंग-बिरंगे, मन-मोहक आवरण, पर जीवन भीतर से सूख रहा है और प्यार उसमें खो गया है। मनुष्य की खुद की एक महक है जो मर रही है। अपनी-अपनी जीवन-पुस्तक खोलिए उसे खिलने का मौका दीजिए, पुस्तक की महक फिर महकने लगेगी।

○○

७

त्याग$_2$ भोग$_1$

विनोबाजी ने जीवन का एक फारमूला (सूत्र) प्रस्तुत किया है–'त्याग$_2$ भोग$_1$'। इस युग का मनुष्य फारमूलो का आदी है। बीजगणित और त्रिग्नोमेटरी, भौतिक और रसायनशास्त्र जैसे विज्ञान-विषयों का विद्यार्थी तो फारमूलो के बिना एक कदम नहीं चल सकता। रोजमर्रा के जीवन मे भी हमे फारमूला समझने और उसी के सहारे आगे बढने का अभ्यास हो गया है। दवाई के हर पैकेट पर उसका फारमूला लिखा जाता है—जिन अवयवो (कम्पोनेण्ट्स) से वह बनी है, उसकी घोषणा करना अनिवार्य है। एक दवाई ही क्यो, कमोवेशी, हमे अपने दैनिक उपयोग के लगभग सभी पदार्थों के अवयवो का पता चल जाता है। माध्यमिक शाला का विद्यार्थी 'एच टू ओ' कहते ही समझ जाता है कि बात पानी की है। दो हिस्सा हायड्रोजन और एक हिस्सा ऑक्सीजन मिलाकर हमारा प्राण-तत्व पानी बनता है। न केवल हायड्रोजन से काम चलेगा, न केवल ऑक्सीजन से। दो-एक के अनुपात मे दोनो मिलेंगे तभी हमारे हाथ पानी

लगेगा। ठीक ऐसा ही फारमूला जीवन-शास्त्र के वैज्ञानिक विनोबा ने प्रस्तुत किया है–जीवन को पाना हो तो 'त्याग₂ भोग₁' को स्वीकारो।

दुविधा

मनुष्य की यह एक ऐसी खोज है जो सच भले ही हो, पर जिसे स्वीकारने को उसका जी नही होता। वह एक ऐसी दौड मे लगा है जिसमे भोग अनन्त, त्याग कुछ नही। बिना त्याग के जितना सुख भोगा जा सके, भोग लिया जाए। वह जानता है कि इस दौड मे उसके हाथ से जीवन खिसक रहा है, लेकिन भोग के मैदान से हटने का उसका मन नही होता। शायद वह हिम्मत भी खो बैठा है।

सब धर्मों के पास जीवन जीने का एक मेटाफिजिक्स (अध्यात्म) है। कोई नहीं कहता कि भोगो। सब छोडने की बात करते है। खाने-पीने की वस्तुओ से लेकर धन, सत्ता, पद, अधिकार, मोह, ममता सब कुछ छोडने के धर्मादेश हैं। जिनके जीवन से मनुष्य प्रभावित है उन्होने भी भोगा कम, छोडा ही छोडा है। बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, गाधी सब त्याग के हिमालय हैं। उन्होने जीवन जीया, जीवन पकडा और बदले मे सब दे डाला। वे मुक्ति के हिमायती थे, मोक्ष-मार्ग के साधक। इसे सब जानत है, सब मानते हैं। अब मैं आपसे भोग की सारहीनता की बात करू तो वह चर्वित-चर्वण ही होगा। निरे भोग में किसी का भरोमा है नही। प्रवचन हमारे त्याग की दुहाई देते है, मदिर त्याग के प्रतीक हैं, साहित्य की सब कथाएँ–लघु हो या बडी–त्याग का ही बखान करती है, यहा तक की शाला की सब पाठ्य-पुस्तको मे बलिदान (सेक्रिफाइस) के ही उदाहरण पेश है। फिर भी मनुष्य ने रास्ता भोग का पकडा है। भोग के लिए बेतहाशा दौड़ लगी है–होड लगी है और जीवन बिखर गया है।

मजा यह है कि भोग को हम थू-थू कर रहे हैं और भोगते जा रहे हैं। त्याग को समझ अधिक रहे हैं, कर बिलकुल नही रहे हैं। होना यह चाहिए था कि हम त्याग के बजाय भोग को समझते। कितना भोगें, किस तरह भोगें, कब तक भोगें और भोगें कि नही भोगें इसका एक विज्ञान रचते। त्याग तो भोग से जुडा ही हुआ है, वह सहज सध जाता। त्याग और भोग की दुनिया अलग-अलग नही है। दोनों सापेक्षिक शब्द हैं—एक-दूसरे पर आधारित। बल्कि भोगने की हर वस्तु, भोगने का हर अधिकार, भोगने की हर घडी त्याग के ही धरातल पर खडी है। ये बेशुमार वस्तुएँ जिनसे हम घिरे हैं और जिनका हम उपभोग कर रहे हैं, उनके निर्माण मे सृष्टि की हजारो-लाखो वर्षों की तपस्या निहित है और लाखो-करोडो मनुष्य के हाथ निरतर लग रहे हैं। क्रूरता इस सीमा तक पहुची है कि जो हाथ वस्तुएँ बनाते हैं वे ही उनसे वचित रहते है। यह लाचारी का त्याग है, पर त्याग तो है ही जो हर वस्तु के साथ जुडा है। इसे आप मनुष्य की चतुराई कहिये या कुछ और, उसने अपने उपभोग के लिए प्रकृति से, *प्राणी-जगत् से और स्वय अपनी ही जमात के लाखो-करोडो से ढेर-भर* छुडवाया है। भोग-उपभोग की पारम्परिक परिभाषा से थोड अलग हटकर सृष्टि के वृहत् केनवास पर इसे रखकर देखिए। मनुष्य त्यागी बनकर, सन्यासी बनकर भी क्या भोग-शून्य हो पाता है? वह भी निरतर भोग रहा है और अपनी जीवन-लीला समाप्त होने तक भोगता चला जाता है। **भोग जीवन की एक अनिवार्य शर्त है, साथ ही, त्याग भी जीवन की एक अनिवार्य शर्त है।** आपने अपने उपभोग के लिए भले ही त्याग न किया हो, पर कोई न कोई तो आपके लिए कर ही रहा है। प्रकृति तो इतनी उदार है कि उसने मनुष्य के हाथो में अपने सपूर्ण भडार ही सौंप दिए है। भोग-उपभोग के पागलपन में मनुष्य ने प्रकृति के इन भडारो का जम-कर दोहन किया है और अब इस रिसर्च (खोज) में पडा है कि ये भडार कितने दिन और चलेंगे? उसे चिन्ता लगी है कि उपभोग की यही गति

रही तो बुनियादी धातुएँ, ऊर्जा शक्ति, बेशकीमती जगल और वनस्पतिया, खनिज पदार्थ चार-छह दशकों में ही चीं बोल जायेंगे। आशंका यह है कि शायद बहुत शीघ्र अनगिनत वस्तुओं के समुद्र मे तैरने वाले इस मनुष्य को पृथ्वी के कड़े धरातल पर वस्तु-हीन होकर जीने के लिए बाध्य होना पडे।

उपभोग पर टिका जीवन स्तर !

यो अभी यह विज्ञान की चर्चा का विषय है। आम मनुष्य को यह एहसास नही है कि वह अपने जीवन के एक नाजुक दौर से गुजर रहा है। उसकी जरूरतें सीमाहीन हैं और यह उसकी कल्पना से बाहर है कि वह उसके बिना भी जी सकता है। अभी तो उसे और चाहिए। एक ऐसा स्टेन्डर्ड–जीवन-स्तर जिसमें उसे कुछ करना ही न पडे और कल्पवृक्ष की तरह उसकी मुरादें पूरी होती चली जाएँ। जो बहुलता की पंक्ति पार कर चुके हैं उन्हें भी और चाहिये, जो गरीबी की रेखा (पॉवर्टी लाइन) के नीचे हैं उनके शरीर को तो चाहिए ही। जो भी हो, भोगते-भोगते मनुष्य वस्तुओ के, धन के, अधिकार के, हुकूमत के और यशोगान के जिस शिखर पर चढ़ा हुआ है 'जीवन' उससे बहुत पीछे छूट गया है। मनुष्य के हाथ अशाति आयी है, क्रूरता आयी है–समाज मे पशुता बढी है, हिंसा फैली है और दुनिया अपने कीमती, आरामदेह, सुविधाजनक और गुदगुदाने वाले जीवन-स्तर के बावजद अधिक बेचैन है, भयभीत है और दुःखी है।

उच्च स्तर का जीवन जीने की आशा से मनुष्य ने अपनी आवश्यकताएँ बढाईं, ढेर सारे उपकरण बनाये, और इसमे विज्ञान का भरपूर सहारा लिया। उसकी सारी हिकमत और सारा तकनीक इस बात मे लगा है कि वह एक स्तर का–स्टेन्डर्ड का–जीवन जी सके। जिन्होने एक स्टेन्डर्ड पा लिया है, वे अपनी दोनो भुजाओ से उसे थामे हुए है, कही किसी झक मे वह हाथ से खिसक न जाए ! जिसने नही पाया है स्टेन्डर्ड, वह चौबीसो घटे इसी राम-भजन मे लगा है कि काश ! उसे स्टेन्डर्ड मिल जाए, लेकिन

इस उधेड़-बुन मे मनुष्य यह भूल ही गया है कि 'त्याग और भोग या भोग और त्याग' का कोई अनिवार्य अध्यात्म है । वे दोनो एक अनुपात में मिलते है तो ही जीवन बनता है, नही तो जीवन बिखरता है । आज तो स्थिति यह है कि भोग का ससार अलग है और त्याग का ससार अलग है । भोग को, उपभोग को कोई लगाम नही है और त्याग ने अपनी एक छोटी दुनिया बना ली है । त्याग कर रहे हैं लेकिन अपने ही अपने ससार मे सिमटकर कर रहे है । कुछ त्याग तो ऐसे है जिनका सबंध जीवन से कम, शरीर से अधिक है । आपने उपवास कर लिया, कुछ परहेज पाल लिया, कायम के लिए कुछ पदार्थ अपने आहार से निकाल दिये—अच्छी बात है, ये 'ड् नॉटस'—सोगन्धे (सोगन) आपका शरीर सुधारेगी और कुछ सकल्प-शक्ति बढ़ायेगी । नन्हे-नन्हे बच्चे भी उपवास कर जाते है । कोई शनिवार करता है कोई सोमवार, व्रतो की एक लम्बी फेहरिश्त भारत के जन-जीवन के साथ जुडी हुई है । छोडते रहने का यह अभ्यास निरतर जीवन-भर चलता है, फिर भी भोग त्याग की पकड से बाहर है ।

कुछ त्याग ऐसे हैं जो इस जन्म से ताल्लुक ही नही रखते । वे केवल अगले जन्म को सुधारने के लिए हैं । हमारे अधिकाश दान-धर्म अगले जन्म के लिए अकित हैं । मानो वे हुडिया हो जो मरणोपरान्त सिकारी जाएगी । हमारे कुछ त्याग महज अपने परिवार के लिए है—बाप ने बेटे के लिए छोडा है और भाई ने भाई के खातिर । इसे सौदा तो नही कह सकते, लेकिन अपने ही सुख का यह एक परिवर्तित रूप है । जरा नजर तो फैलाइये—हम लोग कितने बडभागी हैं कि हमारी साधु जमात जिसने घर त्यागा, स्वजन-परिजन छोडे और वर्षों अपनी काया को तपाया—उसकी सख्या एक करोड के करीब है । हर पचास के बीच एक त्यागी—तपस्वी, लेकिन उनकी यह त्याग-मात्रा भी भोग को अपनी गिरफ्त मे नही ले सकी । उल्टे, अप्रत्यक्ष रूप से भोग इन त्यागियो पर भी सवार है ।

तब भी, त्याग का यह आलम कन्डेम (निकम्मा) करने की बात नही

है। यह एक अच्छा अभ्यास है, एक ऐसा व्यायाम जिसमे से गतिशील ऊर्जा पैदा हो सकती है। समझना यह होगा कि जो त्याग महज व्यक्ति से सबध रखता है–उसके शरीर, स्वाद, रुचि, अभिरुचि, परिवार और उसकी स्वय की आत्मतुष्टि के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है, वह मनुष्य के जीवन को कितना छू रहा है ? उसके भोग-उपभोग की तृष्णा पर कितना अकुश ला रहा है ? वह सम्पूर्ण मानव-जीवन को खुशहाल बनाने मे कितना सहायक है ? जरा गहराई मे जाना होगा। सभवत त्याग के ये छोटे घेरे सरपट दौडने वाले भोग को नही पकड सकेंगे। **त्याग का घेरा हमे बड़ा करना होगा, व्यापक बनाना होगा।**

त्यागो और फिर भोगो

त्याग और भोग केवल सापेक्षिक ही नही, एक-दूसरे से अनन्याश्रित हैं। वे साथ चलेंगे और एक निश्चित अनुपात मे साथ चलेंगे तो ही जीवन परिष्कृत होगा, जीवन जीया जा सकेगा, जीवन वरदान बनेगा, मनुष्य भीतर से मजबूत होगा, टटकर बिखरेगा नही। मनुष्य को यह सोचना ही होगा कि उसने जितना भोगा है, उससे अधिक उसने समाज को दिया है या नही ? उसे यह धुन लगनी चाहिए कि वह अपने उपभोग से अधिक समाज को वापस करेगा। पहले कुछ दे, फिर ले। एक ले तो दो लौटाये। महावीर और गाधी तो महा तपस्वी थे। उन्होने भोगा रत्ती-भर और त्यागा मन-भर। मै उस तपस्या की बात नही कर रहा, पर एक अति-साधारण घर-गृहस्थी वाला जीवन भी मनुष्य को अहिंसा के रास्ते जीना हो तो त्याग उसके लिए अनिवार्य है। त्याग उसके पुण्य-अर्जन, आत्मतुष्टि, आत्म-साधना का विषय नही हैं। त्याग भोग का एक अविभाज्य अग है। दोनो साथ-साथ ही चलेंगे। मनुष्य के पास कोई विकल्प है नही। एक ही मार्ग है–'त्यागो और फिर भोगो'।

अब आप कितना छोडे, कब छोडे और कैसे छोडे–यह तो आप ही तय

कीजिए। इसका कोई एक मापदण्ड नही हो सकता, न ही ऊपर से लादा गया कानून मनुष्य को भीतर से माजता है। भीतर से तो वह तभी मजेगा, जबकि अपनी मर्यादा वह स्वय तय करेगा। लेकिन यह बात साफ है कि केवल आपकी काया से जुडा त्याग बहुत साथ नही देगा। वह हर वस्तु के उपभोग के साथ जुडना चाहिए, जिस धरती पर आप खडे है उसके साथ जुडना चाहिये, जिस समाज के बीच आप है उससे जुडना चाहिये। वह आपके पडोसी से जुडना चाहिये, मोहल्ले से जुडना चाहिये, गाव से जुडना चाहिये और सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणी-जगत् से जुडना चाहिये। भोग मनुष्य को अपने साथ बहुत गहरी गुफा मे घसीट ले गया है, जीवन की गरमी वहा पहुच नही रही है। वहा से लौटने का एक ही उपाय है कि भोग सेण्डविच बने। **भोग पगु है, उससे जीवन की ऊँचाई चढ़ी नहीं जाएगी।** जीवन-शिखर तक पहुचने के लिए उसे त्याग की बैसाखिया चाहिये। जिस उच्च जीवन की आकाक्षा मनुष्य लिये हुए है और जिसे पाने के लिए उसने न जाने कितनी खोजे की है, श्रम किया है, कुरबानिया दी हैं, और हर कुरबानी का, हर त्याग का गीत गाया है, उस मानवोचित जीवन को पाने की मिनिमम (कम-से-कम) शर्त है–'त्याग$_{2}$ भोग$_{1}$'। इसके बिना मनुष्य को अपने जीवन का वह स्वाद हाथ नही लगने का जिसके लिए वह युगो-युगो से तरस रहा है। ○○

८

सम्यक्—खो गया है

'सम्यक्' खो गया है, या यो कहे तो अधिक युक्ति-सगत होगा कि सम्यक् छोडकर मनुष्य ने और सब कुछ ग्रहण कर लिया है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र (कृति) के विशाल समुद्र उसने रच लिये है और इन समुद्रो मे वह गहरे गोते लगा रहा है, ऐसा अमृत पाने के लिए जो उसे शाति दे, सुख दे और उसके सारे कष्टो का हरण कर ले। पर उसके हाथ विष-ही-विष लग रहा है। उसकी वेदनाएँ बढी है, उद्वेग बढा है, न उसे अपने मे चैन है और न बाहर का सुख ही उसे सन्तोष दे पाया है। 'दर्शन' की कुछ कमी है क्या? नभ-थल-जल, सब कुछ तो मनुष्य ने नाप डाले है। आज वह सचमुच उन सब चीजो का राजा है जो उसे दिखाई दे रही है—'मोनार्क ऑफ आल ही सर्वेज'। उसके पास 'ज्ञान' का अनन्त भण्डार है। हर चीज को उसने जाना है, जानने के साधन जुटाये है। मनुष्य के द्वारा एकत्र किये ज्ञान-भण्डार को देखकर मनुष्य स्वय ही आश्चर्यचकित है कि क्या यह सब उसने जाना है? चारित्र (कृति) इतना भीमकाय, व्यापक और पेचीदा

है कि अपनी कृति उसके लिए एक जाल बन गयी है । फिर भी उसकी तृष्णा कम नही हुई, उसे समाधान नहीं और वह अपने को अधिकाधिक भ्रमित महसूस कर रहा है । इतना सब जानकर, देखकर, रचकर भी वह स्वय को नही पकड पाया । आज भी आत्मबोध की पहली सीढी पर ही खडा है वह । बाहर समुद्र है जानकारी का, ज्ञान का, वस्तुओ का और रचना तथा विनाश की शक्ति का । पर भीतर से पानी सूख रहा है । मनुष्य को सन्देह है कि वह मनुष्य रह गया है क्या ?

विचार तो साफ हैं

कोई नही चाहता कि युद्ध हो, आगजनी हो, मारकाट मचे और मनुष्य, मनुष्य का हनन करे । कोई नही चाहता कि वह ठगा जाए, उसे झूट का सामना करना पडे, और सत्य उससे छिन जाए । कोई नही चाहता कि उसका सामान कोई चुरा ले जाए, डाका पडे और वह लुट जाए । कोई नही चाहता कि राह चलती उसकी बेटी को कोई छेडे और वह खतरे मे पड जाए । कोई नही चाहता कि वह फुटपाथ पर बिना दाना-पानी के पडा रहे और उसके सामने वाले महल मे वस्तुओ के ढेर लगे हों । मनुष्य चाहता है कि हिंसा न हो, झूठ न बोली जाए, चोरी न हो, शील-भग न किया जाए और जमाखोरी न भुगतनी पडे । यदि पारिभाषिक शब्दावली लूँ तो अहिसा, सत्य, अचौर्य, शील और अपरिग्रह, जिन्हे हम पच महाव्रत की सज्ञा दिये हुए हैं, वे मनुष्य जीवन के अति-साधारण रोजमर्रा के नियम है । इन नियमो की मर्यादा लाघकर मनुष्य, मनुष्य ही नही रहता । लेकिन दयनीय स्थिति यह बनी है ये कि पच महाव्रत तो अध्यात्म की रूह मे कैद हो गये हैं और मनुष्य की रूह में उतर आयी है हिंसा, तृष्णा, फरेबी, झूठ, चोरी, ठगी, आपाधापी, अश्लीलता, भोडापन और इन सबको पनाह देने वाली बेशुमार चीजे । जो नियम, व्रत आदि अतिसाधारण जीवन की बुनियाद हैं वे प्रवचन और अध्ययन के विषय बन गए हैं । उन पर चर्चायें

होती हैं, व्याख्यायें होती हैं, श्रवण और मनन होता है, मनुष्य श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम करता है और मानता है कि उसकी धर्म-साधना हो गयी।

मनुष्य के पास उत्तम कोटि के धर्म-ग्रन्थ है। आत्मा-परमात्मा का बारीक-से-बारीक विश्लेषण करने वाले अध्यात्म-शास्त्र। वेद, उपनिषद्, गीता, बाइबिल, कुरान आदि मनुष्य को आत्म-ज्ञान देने वाले आला दरजे के शास्त्र हैं और सैकडो सालो से मनुष्य इन ग्रन्थो की पूजा करता आया है। जैन धर्मवालो के लिए 'समय-सार' भी इसी उच्चकोटि का धर्म-ग्रन्थ है, जिसे हम आत्मा का शास्त्र कहते है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वो का गहरा विश्लेषण करने वाला तत्त्व-ग्रन्थ। सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् को समझकर आत्मा और आत्मा से परे ससार की बारीक चर्चा करने वाला यह अनोखा ग्रथ है। एक ऐसा मेटा-फिजिक्स—दर्शनशास्त्र—जिस पर मानव-समाज को गर्व हो सकता है। पर अन्त मे यह ग्रन्थ भी मनुष्य को यही चेतावनी देता है कि—'शास्त्र ज्ञान नही है, शब्द ज्ञान नही है, रूप-वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श ज्ञान नही है। काल-आकाश भी ज्ञान नही हैं, धर्म-अधर्म ज्ञान नही है। ज्ञान स्वय मनुष्य (आत्मा) है, वह ज्ञायक है तथा ज्ञानी है। ज्ञान ज्ञायक से अभिन्न है नही।' ठीक इसी आशय की चेतावनी उपनिषद् भी देता है

'जो जन अविद्या मे निरन्तर मग्न हैं
वे डूब जाते हैं घने तमसान्ध मे
जो मनुज विद्या मे सदा रममाण हैं
वे और घन तमसान्ध मे मानो धसे
वह आत्म-तत्त्व विभिन्न विद्या से कथित
एव अविद्या से कथित हैं भिन्न वह'

जिस आत्म-बोध की मनुष्य को जरूरत है वह विद्या तथा अविद्या दोनो से भिन्न है—यही सम्यक् अवस्था है। लेकिन सम्यक् से तो हम बहुत दूर चले गए है। ज्ञान-विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओ मे इतनी गहराई तक

मनुष्य उतर गया है कि आज तो न उसे आत्मबोध है और न समाज-बोध। उसे केवल अपना शरीर-बोध है। और इसके लिए उसने अपने समूचे वैज्ञानिक ज्ञान को अड़ा दिया है। मनुष्य के हाथ में अपार शक्ति आयी है। वह धरती को उलट सकता है और नभ को पैरो तले रौंध सकता है, परन्तु विज्ञान का यह महायुग मनुष्य का सबसे अधिक लाचार युग है। जो वह नही चाहता वह सब उस पर लद गया है और बडी बेबसी से उसे वह ढोना पड रहा है।

जितना गहरा वह ज्ञान-विज्ञान मे धँसा, उतना ही गहरा वह अध्यात्म मे भी धँसा हुआ है। आत्मा और परमात्मा का सूक्ष्मतम विवेचन उसके पास है। भक्ति-मार्ग वाला हो, या साधना-मार्ग का साधक हो, अध्यात्म की गुफा मे वह इतने भीतर पहुच गया है कि प्रकाश वहा है ही नही। ज्ञान-विज्ञान मे भी वह गहरे उतर गया और अध्यात्म मे भी बहुत गहरे डूब गया। दोनो का कही मेल नही है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य स्थूल-से-स्थूलतर और स्थूलतम बना है। अध्यात्म उसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होने की सीख देता है। आत्मा को पकडना हो तो यही एक मार्ग है। पर स्थूल और सूक्ष्म तो विरोधी दिशाएँ है—एक दूसरे को पकड ही नही पा रही है। इस कारण अपनी सम्पूर्ण समृद्धि—भौतिक जगत् की और अध्यात्म जगत् की—पाकर भी मनुष्य के हाथ समाधान नही लग रहा है।

निश्चय ही आत्मा पर-द्रव्य से अलग है। और यह आत्मबोध प्राप्त किये बिना मनुष्य पदार्थ की दुनिया से अपने को अलग करके नही देख सकेगा। उसे निर्लिप्त होने की साधना करनी है। बस यही मनुष्य गच्चा खा जाता है। या तो वह पूरी तरह लिप्त होता है या सब कुछ छोडकर साधक और त्यागी बनता है। आराधना-घर में या मन्दिर मे वह अध्यात्म के, आत्म-चेतना के सरोवर में तैरता है और बाहर निकलते ही शरीर-सेवा मे लग जाता है। मानो, मनुष्य के ये दो अलग-अलग कर्त्तव्य

हो। इन कर्तव्यो को अलग-अलग एक-दूसरे से बिना जोडे निभाने की खटपट में मनुष्य ने अपना आत्मबोध ही खो दिया है।

मनुष्य एकान्त मे बैठकर पूजा-घर मे सम्यक् बनेगा और पर-द्रव्य से अपनी आत्मा को अलग करने के लिए ध्यान-धारणा करेगा ताकि वह सब तरह के बन्धनो से मुक्त होने की राह पा सके। माया, मोह, ममता, लोभ, तृष्णा, स्वार्थ और शरीर-निष्ठा की छाया से दूर रह सके। भक्ति-मार्ग वाला प्रभु-स्मरण करेगा और सारे ससार को राममय देखेगा। और वही आत्म-भक्त मन्दिर की देहरी से बाहर आकर पूरी तरह खुद को समाज के प्रवाह मे छोड देगा—जितनी माया मिलती हो बटोर लेगा, जितना स्वार्थ सधता हो साध लेगा, जिस किसी तरह बात बनती हो बना लेगा, और इस तरह अपना सारा आत्म-बोध, चिन्तन जो उसने पूजा-घर मे बैठकर अर्जित किया था, वह सब समारार्पण कर देगा तो यह सारा माइनस-प्लस (ऋण-धन) ही हुआ न? हो ही रहा है। बल्कि माइनस अधिक हुआ है। हम देख रहे हैं कि आध्यात्म आज घुटने टेक कर विज्ञान का दास बना है। हमारी अपनी ही कृतियो के आगे आत्म-ज्ञान चारो खाने चित्त है।

दिशा एक ही है

क्या अब वह समय नही आ गया है कि हम अपना आत्म-बोध, अपना अध्यात्म शास्त्रो की चौखट से बाहर लाये और उसे हाट-बाजार तक पहुँचाये? मनुष्य का वह सारा जीवन जो वह पूजाघर के बाहर जी रहा है उसे अध्यात्म की सुरखी दे? आत्मा का मार्ग और शरीर का, पुद्गल का मार्ग अलग-अलग है नही, दोनो एक ही दिशा मे साथ-साथ कदम मिला-कर चलेगे तभी मनुष्य से आत्म-धर्म—मानव-धर्म सधेगा।

इस खुले सत्य को समझने के लिए बहुत अधिक तर्क की जरूरत नही है। हम देख रहे हैं कि विज्ञान अपने सर्वोच्च शिखर पर है और सारा ससार उसकी चपेट मे हैं। चाह कर भी आप उससे बिलग नही रह सकेगे। मनुष्य

की हर सास के साथ विज्ञान और विज्ञान का वस्तु-भण्डार जुड़ा हुआ है। समाजहीन और वस्तुहीन कोई नही बन पाता—न साधक बन पाता है, न गृहस्थ—तब हमारे चिन्तन का, हमारी आराधना का, हमारी पूजा का, हमारी धर्म-साधना का मोड़ (ढग) क्या हो ? अत्यन्त श्रद्धा-भाव से मन्दिरो की पावन छत के नीचे अर्पित हमारी पूजा-अर्चना, विनीत भाव से घड़ी-दो-घड़ी का हमारा शास्त्र-स्वाध्याय, तत्त्व-चर्चा और मीमासा, धर्म-श्रवण और व्रत-उपवास, ध्यान-धारणा आदि बहुत लघु साबित हो रहे हैं। हमारा यह कीमती आत्मबोध हमे ही नही छू पा रहा है, समाज को तो कैसे छुएगा ? सम्यक् तत्त्व की यह उपासना एकदम व्यक्तिगत बन गयी है। इतनी व्यक्तिगत कि व्यक्ति स्वय उससे अछूता रह जाता है।

मनुष्य को उनके धर्म-ग्रन्थ, दर्शन-शास्त्र, मन्दिर, आराधना-घर, पूजा-अर्चना, भजन-कीर्तन, सत्सग और व्रत-नियमादि इस मजिल तक तो जरूर ले गये कि वह ससार की, पुद्गल की और पुदगल के भौतिक सुखो की सारहीनता को समझे और आत्मा के सार तत्त्व को जाने, आत्मा की गति पहचाने, उसे पर-द्रव्य से अलग करके देखे और आत्म-तत्त्व की उपासना करे।

पर मैं अति विनम्र होकर कहना चाहता हूँ कि मनुष्य की यह महज पहली मजिल है, भव-सागर का एक किनारा मात्र है, जिस पर खड़ा मनुष्य यह समझ रहा है कि वह सम्पूर्ण जगत् से अलग कोई एक आत्म-तत्त्व है जिसे इस भवसागर मे डूब नही जाना है। पर यह समझ उसकी यात्रा का अन्तिम पड़ाव नही है, बल्कि उसकी लम्बी यात्रा का केवल एक डग है। उसे जितनी लड़ाई अपने भीतर उपजने वाली तृष्णा, हिसा, द्वेष, वैर, मोह, ममता और लालच से लड़नी है, उससे कई गुणा अधिक लड़ाई उसे समाज मे कैसर की तरह फैल रही हिंसा, क्रूरता, स्वार्थपरता, आपाधापी, असत्या-चरण और मोह-जाल से लड़नी है। पर एक आत्मज्ञानी, मुमुक्षु तो बाहर

से कतरा रहा है और यह सब देख-समझ कर भी अपने ही भीतर बन्द है। यह कैसे सम्भव है कि चिन्तन के क्षणो मे आप सम्यक् बने रहें, शास्त्र-स्वाध्याय करते समय आपका आत्म-तत्त्व सजग रहे, मन्दिर-उपासरो मे आपको सम्यक्-तत्त्व की गरमी मिले और बाहर का आपका सम्पूर्ण जीवन मिथ्या-आधारित चलता रहे ? **बाहर का मिथ्याचरण मनुष्य को आत्म-धर्मी नहीं रहने देगा।** तब क्या मनुष्य केवल भीतरी मिथ्यात्व से जूझेगा और समाधान पायेगा ? या अपनी ताकत बाहर के मिथ्यात्व को जीतने मे लगायेगा ?

कृति मे मिथ्याचरण और चिन्तन मे सत्य की उपासना, मन्दिर मे आत्म-ज्ञान और बाहर भोग-विलास, धर्म-ग्रन्थो मे तत्त्व-चर्चा और समाज-जीवन मे स्वार्थपरता, उपवास भी और परिग्रह भी—यह चलने वाला है नही। इस द्राविड प्राणायाम मे हमने जितना आत्मज्ञान खोजा और पाया वह सब धुल-पुँछ गया है। सम्यक् तत्त्व को खोकर मनुष्य के सारे कारनामे उसके लिए ही बोझ बन गये है, जिसके नीचे दबा हुआ मनुष्य एक दिन निश्चित रूप से करवट लेगा और तब वह अपना आत्म-ज्ञान अपनी हर कृति मे ढूंढेगा। उसकी धर्म-साधना एकान्तवासी नही रहेगी, पूरे समाज के बीच होगी, सबके लिये होगी और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साथ जुडेगी। यही मनुष्य का असली धर्म है। ○○

९

भय से घिरे हैं आप

आप, हम—सब भय से घिरे है, और इस घेरे को तोड ही नही पा रहे है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, हेबियस कारपस (न्याय पाने का हक्) और मानव-अधिकार के इस युग मे भी मनुष्य स्वतन्त्र नही है। वह भय के कारावास में कैद है। सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा घोषित 'चार्टर ऑफ ह्यूमन राइट्स' (मानव-अधिकारो का घोषणा-पत्र) पढकर ऐसा लगता है कि मुक्ति के जितने द्वार हो सकते थे, वे सब मनुष्य के लिए खोल दिए गये हैं, फिर भी मनुष्य मुक्त नही है। अपने-आप मे कैद है। वे दिन तो लद गये जब मनुष्य बिकता था। बस्ती के हाट-बाजारो मे उसकी नीलामी होती थी और वह अपने मालिक का आजीवन गुलाम बनता था। अब पूरा-का-पूरा मनुष्य नही बेचा जाता। यह अलग बात है कि मनुष्य खुद अपना श्रम बेचता है, अपनी अक्ल बेचता है, अपना ईमान बेचता है, अपना शील बेचता है और अपनी आत्मा बेचता है। मुक्ति का परवाना अपने हाथ मे लेकर भी वह अपनी हर चीज बेच रहा है।

क्यो बेच रहा है ? इस प्रश्न की तह मे उतरेगे तो आप पायेंगे कि मनुष्य ने अनेक रावण-रेखाएँ अपने चारो ओर खीच ली हैं , जिन्हे लाघने की हिम्मत उसमे नही है । वह भय-पीडित है । मैं उस भय की बात नही कर रहा जो एकदम सतह पर हैं । उफनते हुए समुद्र को देखकर आप डर जाएँ, जायज है । बियाबान जगल मे अकेले फँस जाएँ, डरना मुनासिब है । हिंसक पशुओ से भय लगेगा ही । बाढ़-भूकम्प से भी आपका जी कापेगा । गरज यह कि प्रकृति के विकराल रूप के आगे मनुष्य पगु रहा है और उस सीमा तक उसका भयभीत होना स्वाभाविक है । बावजूद इसके, मनुष्य ने इस छोर पर काबिले-तारीफ हौसला दिखाया है । घने जगल, ऊँचे पहाड, तूफानी समुद्र, आकाश की दूरी और पृथ्वी की गहराई उसके वश मे हैं । यह क्षेत्र अब भय का नही रहा । प्रकृति मनुष्य की चेरी है ।

एक और छोर हे जिस पर भी मनुष्य की विजय-पताका लहरा रही हे । उसने खुद आगे बढकर अपनी ही पाशविकता को नियन्त्रण मे लिया है । मनुष्य के बहकते हुए वहशीपन के लिए उसके पास राज्य शासन है, दण्ड-विधान है, जेलखाने है, पुलिस है, फौज है और हथियारो तथा आयुधो का अखूट भडार है । बहक कर देख लीजिए फिर या तो आप जेल के सीकचो मे बन्द मिलेंगे, या पागलखाने मे । मनुष्य अपने ही पशु-बल से और पागलपन से खुद सावधान है । जहा-तहा बहुत मामूली-सी बातो पर हिसा भडकती है तो काबू मे भी आ जाती है । युद्ध लडते है, विनाश होता है, लेकिन मनुष्य फिर शान्ति की राह पर चलने लगता है । नि सदेह उसने अपनी भडक उठने की दुर्बलता पर पूरी तो नही, आशिक विजय जरूर पायी है ।

भय के घेरे

पर भीतर से उसकी वीरता परास्त है । बाहर वह दिलेर है, हर सकट का डटकर मुकाबिला करता है । जान पर खेल जाता है । आग लगी

हो, महामारी फैली हो, भूकम्प आया हो, बाढ से बस्तिया घिरी हो, मार-धाड मची हो—मनुष्य जूझ जाता है, मर मिटता है। मानव-सभ्यता का इतिहास ऐसी अनेक वीर-गाथाओ से भरा पडा है। इस सिरे पर मनुष्य ऊपर मे निडर बना है, लेकिन जाने क्यो उसने भीतर-ही-भीतर भय के दोहरे-तिहरे-शतगुने ताने-बाने अपने चारो ओर बुन लिये है। हर मनुष्य के अपने भय हैं, अपने जाल हैं, अपनी कारा है जिसे तोडकर वह बाहर नही निकलता। वह यह जानता है कि जिन रेखाओ को लाघ कर उसके कदम बाहर नही पड रहे, वे उसकी खुद की बनायी रेखाएँ है। और चाहे तो वह साहसपूर्वक उन्हे तोड सकता है, पर ये परिधिया उससे टूट नही रही, बल्कि और-और गहरी होती जा रही हैं।

वह कौनसी चौखट है जिसमें मनुष्य कैद है ? पहली तो यह कि, वह परम्पराओ का गुलाम है। उस पर लदे बहुत से रीति रिवाज, विधि-विधान, नियम-व्रत बे-मतलब हैं। कुछ तो हास्यास्पद हैं, अन्ध-विश्वासो और कुमान्यताओ पर टिके हैं। पूजा-अर्चना की बहुत-सी विधिया, पाप और पुण्य की कल्पनाएँ, स्वर्ग और नरक के ख्वाब, श्राद्ध, पिण्डदान, पडागिरी—सब भय पर आधारित है। हमारे ओझाओ, ज्योतिषियो, मौलवियो, पडितो और शास्त्रियो ने मनुष्य के इस भय को सीच-सीच कर और-और पक्का किया है। जत्र-तत्र-मत्र भी इसी दिशा मे माइलस्टोन (मील का पत्थर) हैं। अपने आत्म-विश्वास, सदगुण, उज्ज्वल चरित्र, सकल्प-शक्ति और धैर्य-निष्ठा का सहारा छोडकर मनुष्य कर्म-काण्ड मे फँसता है और मत्र-तत्र की माया मे उलझता है। इससे उसकी वीरता मद होती है। उसकी कर्त्तव्य-शक्ति कुण्ठित होती है। प्रकाश की एक हल्की रेखा उसके दिमाग में कौधती है और आत्मा पुकार कर कहती है कि यह पाखण्ड है, पर आत्मा की यह पुकार मनुष्य अनसुनी करता है। वह जानता है कि यज्ञ-जाप, मडल-विधानो से और अखड कथाओ से द्रवीभूत होकर आसमान से पानी नही बरसने का, उसके पितर श्राद्ध से

नही, अपने ही सुकर्मों से तरने वाले हैं; गडे-तावीज से उसकी व्याधि दूर नही होने की—पर भय से हारा-थका मनुष्य शकित श्रद्धाओ के साथ यह सब करता जाता है। ये सारे परम्परागत बोझ उसे ढोने पड रहे हैं।

भय की एक और बाज़ है कि **'लोग क्या कहेंगे'**। अपने आत्म-बोध को एक तरफ रखकर मनुष्य अपनी कृतियो को दूसरो के लैन्स से देखता है और गडबडा जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए लोकाचार का खयाल तो उसे रखना होगा, रखना चाहिए। अपने पडोसी को कष्ट मे डालने वाला आचार सदैव ही बुरा माना जाएगा। उतनी लक्ष्मण-रेखा मनुष्य अपने चारो ओर खींचे और ऐसा कोई कृत्य नही करे जो पडौसी के लिए, समाज के लिए, और राष्ट्र के लिए खतरे से भरा हो तो वह भय की नही सुविचार की मर्यादा मानी जाएगी। लेकिन ऐसी सब मर्यादाएँ तो मनुष्य निरन्तर तोड रहा है। साथ ही, बहुत से अच्छे काम, अच्छे कदम इसलिए चूक रहा है कि 'लोग क्या कहेंगे'। मनुष्य अपने पराक्रम का खुद निर्माता है, लेकिन वह अपनी आखो से देखे तब न! परिणाम यह है कि दूसरो को जचता है तो करता है, नही जचता है तो पीछे हट जाता है।

इस रिट्रीट का—पलायन का एक यह पहलू भी है कि मनुष्य अप्रसन्नता मोल नही लेना चाहता। मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ जिन्हे पीने से सख्त नफरत है, पर वह मित्र-मडली मे बैठकर इसलिये पी जाते है कि मित्र नही मानते। अपने मित्रो के बीच वह नक्कू नही बनना चाहते। यह जो 'मखौल' का डर है वह सर्वोपरि बन रहा है। यदि सुकरात मखौल से घबराता तो शायद बहुत से सत्य समाज मे उतरते ही नही। हर वीर पुरुष ने अपने आसपास के लोगो की, समाज की और राष्ट्र की अप्रसन्नता को सहा है। ईसा इसीलिए तो सूली पर चढाये गये कि उनकी बाते तत्कालीन समाज के गले नही उतर रही थी। गाधी को गोडसे ने इसीलिए तो गोली मारी कि गाधी के कृत्य उसे भा नही रहे थे। ऐसे उदाहरणो से हमारा इतिहास भरा पडा है। ये सब वे धीर-वीर पुरुष-महापुरुष है, जिन्होने

अपनी आत्मा की पुकार पर अपने आस-पास की रावण-रेखाओं को लाघा है। पर आप-हम सब क्या कर रहे हैं? दूसरो की प्रसन्नता या अप्रसन्नता को तौल रहे हैं। जिन रेखाओ को लाघना चाहिए उन्हें और-और गहरी कर रहे है। इस तरह हम अपने-आप मे लिपटकर लघु और लघुतर बन रहे हैं।

आतक

भय की चौखट की एक और बाजू है—आतक। मानव-सभ्यता का यह सर्वाधिक विषैला तत्त्व है। अन्याय के प्रतिकार से इसने मनुष्य को पीछे हटाया है। मन मारकर अन्याय सहना सिखाया है। चप्पे-चप्पे पर फैली हमारी सारी दादागिरी, गुंडागिरी, रौब, आतक (राज्य का हो चाहे समाज का), चौधरात, दलबदी ने मनुष्य को भयकर रूप से पिलपिला कर दिया है। आतक के साथ जुड गया है शोषण। एक चेन सिस्टम (लडी) है। मैं आपसे आतकित हूँ, आप मुझ से और लगातार सब एक-दूसरे से—ऊपर से नीचे तक। एक जगह आतक मुझ पर लदता है तो दूसरी जगह मेरे आतक का बोझ कोई और ढो रहा है। और इस तरह अन्याय सर्व-व्यापी बन गया है। आतक और अन्याय को जब सह लिया जाता है तो जीवन की तर्ज ही बदल जाती है। मुझे लगता है कि आतक का विष कोबरा के विष से भी अधिक जहरीला है। वह मनुष्य से उसका मनुष्यत्व ही छीन रहा है। एक दादा पूरी बस्ती पर छा जाता है। कबीर को हरिगुण लिखने के लिए सात समन्दर की मसि चाहिये थी, पर मानव-जाति के चप्पे-चप्पे पर चलने वाले अन्यायो की कहानी लिखने के लिए सात समन्दर की मसि से कुछ नही होगा। **अन्याय इसीलिए शत-शत गुणित होकर पनप रहा है कि मनुष्य भीतर से भयभीत है और अपने ही बुने भय के ताने-बाने मे यह समझकर बैठा है कि वह सुरक्षित है।**

सीख रहा है वह पराक्रम और बन गया है भीरु। उसने अहिंसा-धर्म स्वीकारा है, वह सत्य का उपासक है और जीवन जी रहा है भय के सहारे।

जहा भय है वहा सब कुछ समाप्त है। गाधीजी ने इसीलिए अपने एकादश व्रतो मे 'सर्वत्र भय वर्जन' जोड लिया था। वे मानते थे–"जो सत्यपरायण रहना चाहे, वह न तो जात-बिरादरी से डरे, न सरकार से डरे, न चोर से डरे, न बीमारी या मौत से डरे, न किसी के बुरा मानने से डरे।" सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले मनुष्य को सबसे पहले अपने भय से निबटना होगा। सब रावण-रेखाएँ तोडनी होगी जो उसने डरकर अपने चारो ओर रच ली हैं। ऐसा किये बिना वह अपने भीतर उग रहे अहकार से, तृष्णा से, मोह-माया से और स्वार्थ से लोहा नही ले सकेगा। ये सब काटे भय का कवच धारण करके मनुष्य के भीतर पैठ गये है और पुष्ट हो रहे हैं।

बाहर से मनुष्य मुक्त है। उसे अपने धर्म पर, अपने ईमान पर, अपने विश्वास पर जीवन जीने की छूट है। अब गुलाम बनने के लिए आपको कोई मजबूर नही करता। धर्म-परिवर्तन के जिहाद अब हिकारत से देखे जाते है। धर्म-जाति-वर्ग की कैद उठ गयी है—मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए पूरी आजादी है। लीजिए जितनी खुली सास लेते बने। चलिये जितना विवेक से चलते बने। मनुष्यत्व मनुष्य की पहुच से परे नही है।

फिर भी इन्सान इमानियत जी पा रहा है क्या? उसका ही ईमान उससे दूर जा पडा है। उसे अपनी ही आत्मा की आवाज नही सुनायी दे रही है। उसका विवेक उसकी पकड से बाहर है। महावीर ने बहुत सरल नुस्खा दिया–"विवेक से चलो, विवेक से खडे होओ, विवेक से उठो, विवेक से सोओ, विवेक से खाओ, विवेक से बोलो, तो फिर मनुष्य बने रहने मे कोई कोर-कसर नही।" पर विवेक गिरफ्तार है—वह भय के ताबे मे है। मनुष्य मुक्त होकर भी जेल भुगत रहा है। उसका यह जेलखाना बाहर नही, भीतर है। खुद की रची रेखाएँ, जिन्हें लाघने की हिम्मत वह खो बैठा है।

आज नही तो कल मनुष्य को अपनी पराजय का यह राज समझना ही होगा। उसने बाहर बहुत मैदान मारे है, पराक्रम के अनेक गौरव-

शिखर खड़े किये हैं, वह सब मे आज विश्व-विजेता है; लेकिन विश्व-विजयी होकर भी वह आत्मविजयी नहीं हो पाया। मनुष्य, मनुष्य से ही पराजित है। और गहरे उतरें तो आप पायेंगे कि मनुष्य अपने आप से ही हार खा बैठा है। जो बेडिया उसने पहन रखी हैं वे उसकी खुद की बनायी हुई हैं। उसने अपने हाथ से ही अपने पैरो मे डाली हैं। अपराजेय की बात करते हुए भवानी मिश्र कहते हैं

"नही, हम पराजय नहीं ले सकते !
आप अपनी मर्जी का भय
हमे नहीं दे सकते।"

आज इस महासकल्प की जरूरत है। **मनुष्य का अगला पराक्रम यही होगा कि वह अपना भय खोजे और मिटाये।** वे रावण-रेखाएँ जिन्हें वह नही लाघ पा रहा है, लाघ जाए। तभी वह अपना आत्म-धर्म पहचान सकेगा, अपने भीतर की आवाज सुन सकेगा, अहिंसा की राह चल सकेगा और मुक्त सास ले सकेगा।

OO

१०

भीड़ कहीं कुचल न दे !

भीड कही कुचल न दे, यह कहने के बजाय क्या यह कहना अधिक उपयुक्त नही है कि भीड ने आदमी को कुचल दिया है और वह अपनी इस स्थिति से उबरने के बदले इसे ही अपनी तरक्की समझ रहा है ? बात यह उस भीड की नही है, जो आप-हम सिनेमा घरो के सामने, रेलवे प्लेटफार्मो पर, रेलगाडियो मे, माघ-मेलो मे, जुलूसो मे या नुमाइशो मे देख रहे हैं। ऐसी भीडे हमे घडी-दो-घडी के लिए अच्छी लगती हैं और फिर बिलकुल नही भाती। जितनी बडी भीड, उतने ही बडे स्टैम्पीड–भगदड की आशका रहती है और आदमी उससे कतराकर दूर भागना चाहता है। भीड मे घुसकर अपना काम बनाने के बजाय वह कोई चोर-दरवाजा ढूँढकर भीड से बच निकलना चाहता है। उसकी सारी शक्ति, परिश्रम, परिचय, रुतबा और अक्ल भीड को टालकर काम बना लेने मे लग रही है। भीड मे फँसे रहना और धक्के खाना उसकी लाचारी है, कामयाबी इसी मे मान ली गयी है कि भीड उसे सहनी न पडे और वह भीड से कुछ अलग नजर आये।

बढती हुई भीडें मनुष्य का नया सिर-दर्द है और उससे निजात पाने के अनेक उपाय खोजे जा रहे हैं। आबादी के भारी-भरकम बोझ से हमे अपना अर्थ-शास्त्र चरमराता नजर आ रहा है। हमारे सब पैमाने छोटे पड रहे हैं और अगर बोझ इसी रफ्तार से बढता रहा तो धरा एक दिन मनुष्य को कहेगी कि—'मैं तुझे धारण करने मे असमर्थ हूँ।'

भीड का लोभ

पर मैं इस भीड की बात नही कर रहा। इसके लिए आप-हम-सब बहुत-बहुत चिन्तित हैं, और शायद बचने का कोई रास्ता ढूंढ लेंगे। लेकिन उस भीड का क्या होगा, जिसमे व्यक्ति खोकर भी रम गया है, जिसने हमारे दिल और दिमाग पर काबू पा लिया है, जो हमारी रूह मे उतर गयी है और बडी प्यारी लग रही है ? यह भीड है परम्पराओ की, मान्यताओ की, लीको की जो धीरे-धीरे ढेर-की-ढेर बन गयी हैं और इतनी प्रतिष्ठा पा गयी हैं कि मनुष्य उसमे खो गया है। घर मे, शाला मे, बाजार मे, व्यापार-व्यवसाय मे, दफ्तर मे, राज-काज मे और धर्म-काज मे बात चाहे आत्म-धर्म की हो या शरीर-धर्म की, मनुष्य उन छवियो से घिरा हुआ है, जिसे भीड ने बनाया है। भीड से परे होकर वह कुछ देख ही नही रहा है। जिस काम में भीड इकटठा होती है वह ग्राड गेला सक्सेस—चरम सफलता है, अन्यथा सब फैल। हमारे हर काम ने समारोह का रूप ले लिया है। इतना प्रभावी है यह रूप कि दूसरा कुछ सूझता ही नही। यह जो मजमा जोडने की बात है वह इस कदर घर कर गयी है कि गृहस्थ के लिए वह आन-बान और शान की चीज बनी है और साधुमना विरक्तो के लिए भी वह लुभावनी हो गयी है। एक बार हमने चाहा कि श्री . जी का प्रवचन कुछ जिज्ञासुओ के बीच हो जाए, पर प्रवचन इसलिए नही हो पाया कि उन्हें हजारो से कम के बीच बोलना बहुत छोटी बात लगी।

और इस तरह भीड बहुत गहरे उतर गयी है। वह छा गयी है और

अनजाने, बिना कोई बोझ महसूस किये, बिना किसी सफोकेशन–घुटन के हमने उसे अपना लिया है। बल्कि, हमने अपना बहुत कुछ उसके हवाले कर दिया है। यह एक ऐसी बाढ है जो दिखायी नही देती, लेकिन उसमें आदमी का बहुत कुछ बह रहा है। नदियो मे बाढे आती हैं और धरती की उपजाऊ परत अपने साथ बहाकर ले जाती हैं। हमारे कृषितज्ञ इस सॉइल-इरोजन–भू-कटाव से बडे परेशान हैं और उन्हे यह आशका है कि इसी तरह भू-कटाव चलता रहा तो हमारी लाखो एकड उपजाऊ जमीनें बजर हो जाएगी। और इधर मनुष्य का जो लवण भीड मे बह रहा है उससे उसकी कितनी फरटिलिटी–कर्मशक्ति धुल जाएगी, कहना कठिन है। यो, काफी धुल चुकी है। मनुष्य अधिक गतिशील होकर, अधिक व्यस्त होकर, अधिक खपते हुए भी बहुत अकर्मण्य साबित हो रहा है। **बात यह हो गयी है कि व्यक्ति खुद कुछ करे, जिस धर्म पर उसका भरोसा है उसे अपने जीवन में उतारे, इसके बजाय वह अपना धर्म भीड को सौंपकर अलमस्त है।**

अभी बडे जोरो से हमे महावीर की याद आ गयी है। पच्चीस शताब्दिया बीत गयी उसका निर्वाण हुए, हमने ठीक सोचा कि कम-से-कम एक वर्ष तो उसकी याद मे बिताये। उसने जो कहा था उसे समझें, उस पर आचरण करे। अहिंसा का, सत्य का, प्रेम और करुणा का, आत्मबल का, शुद्ध और सही जीवन का जो मार्ग उसने बतलाया उसे खुद जाने, उस पर चले और दूसरो को जानने का और चलने का मौका दे। पर यह हो कैसे? व्यक्ति अपने पैरो पर तो है नही, वह भीड के रथ पर सवार है। उसने महावीर को भी भीड के सुपुर्द कर दिया है। पर महावीर व्यक्ति का है, भीड का बिलकुल नही। वह करनी का अधिक, कथनी का कम। वह बाहर की सारी डोरिया छोडकर अपने भीतर उलझी डोर सुलझाने वाला अन्तर्मुखी, आत्मजयी परमवीर। उसने मनुष्य को मुक्ति-बोध दिया, पर हमें गगनभेदी जयघोषो की चिन्ता है। चिन्तक परेशान है कि–'कही

ऐसा न हो कि महावीर अगूठी मे, पेपरवेट पर, चाबी के छल्लो पर, ग्रीटिंग कार्ड मे, केलेण्डर में, किताब के चटकीले आवरण मे, आदि-आदि बातो मे सीमित रह जाए।

आशका जायज है। अभी-अभी तो हमने गाधी की पहली जन्म-शताब्दी इसी तरह मनायी है। गाधी को हम हेअरपिन पर उतार लाये। एकदम सिर-माथे पर बैठा लिया। वह बिल्लो की शक्ल में हमारे सीनो पर उतर गया। बटनो की शक्ल मे हमारे वस्त्रो पर टग गया। मूर्तियो के रूप मे हमारे चौराहो पर खडा हो गया। रुपयो की सूरत मे हमारी तिजोरियो मे पहुच गया। उसकी वाणी का सम्पूर्ण वाङ्मय एक क्विटल से कम नही है, उठ तो सकता नही इसलिए हमने हिफाजत से अलमारियो में रख दिया। भीड के पास एक ही फारमूला है। गाधी के मरने के केवल २० वर्ष बाद जो गाधी का किया वही वह महावीर का करने जा रही है। २५०० वर्ष के बाद तो और अधिक छूट लेने की गुँजाइश है न ?

जो भी हो, गाधी और महावीर के भक्त जो कुछ कर रहे हैं परम श्रद्धा और भक्ति के साथ कर रहे हैं। मनुष्य कतई नही चाहता कि वह अपने मसीहाओ, पैगम्बरो और तीर्थंकरो को उपेक्षित रखे। उन्हें वह सर-आखो पर बैठाना चाहता है, उसका वश चले तो माउण्ट एवरेस्ट पर उन्हें बैठा दे। अब यह हिमालयी काम अकेले उसके वश का नही, इसलिए भीड को लेकर चल रहा है। और यही उसकी सबसे कमजोर कडी है। ऊँचा उठाकर भी, लाखो कण्ठो से जयघोष करवाकर भी वह अपने महापुरुषो को अपनी ही पहुच से बाहर कर रहा है। उसके हाथों वही सब कुछ हो रहा है जो उसके गुरू नही चाहते थे। एक अजीब पेरॉडॉक्स है—विरोधाभास है। जो नही होना चाहिए वही जोरो से होता है।

भ्रम जाल

इस उलझन की तह मे आप जाये तो पायेंगे कि वह उस भीड का अजाम है जिससे हम सब घिरे हैं। वह अति सूक्ष्म होकर हमारे भीतर पैठ गयी

है। उसकी जकड मे हम इसलिए नही है कि उसने हमे पकडा है, बल्कि हुआ यह है कि हम उससे चिपक गये हैं। जो धर्म हमारा अपना है, मनुष्य के खुद के आचरण का है, प्रतिपल-प्रतिक्षण जीने का धर्म है, बोलने के बजाय करने का धर्म है, खुद की कमजोरियो से लडने का धर्म है, अपने को तपा-तपाकर निखारने का धर्म है वह हमने तसवीरो, मूर्तियो, बन्दनवारो, तोरणद्वारो, रथयात्राओ, बोलियो व नीलामियो पर चढा दिया है। भीड खुश है, उसे एक काम मिल गया और हम भी बहुत खुश हैं, महावीर गली-गली मे लहराने लगा।

इस भ्रमजाल में मनुष्य यह भूल ही गया है कि वह जिस धर्म की जय-जयकार मे लगा है, वह आत्मा का धर्म है, वस्तुओ का बिलकुल नही। उसका सबध उससे है जो मनुष्य जन्मते समय अपने साथ लाया है। आदमी न नगा जन्मा है, न खाली हाथ जाने वाला है। वह कुछ लेकर आया है और लेकर ही जाएगा। बच्चे को देखिये न ! कितनी बेशकीमती चीजे साथ लेकर जन्मा है—उसके पास भोलापन है, ममता है, सादगी है, सरलता है, करुणा है। चोरी उसे आती नही, छिपाना वह जानता नही, जो कहता है सच ही कहता है, बल्कि सच के अलावा कुछ नही कहता। पर हमारे भीतर की भीड उसके इस बेशकीमती खजाने को समृद्ध करने के बजाय उसे ईर्ष्या दे रही है, पुरस्कार के रूप मे घृणा दे रही है, सम्मान के रूप मे अहकार थमा रही है। उसे खुदगर्जी सिखा रही है। ममता की मूर्ति पर क्रूरता पोत रही है। मजा यह है कि भीड की इस चपेट मे बच्चे तो है ही, बडे और अधिक है, क्योकि भीड का मनोविज्ञान उनके रक्त मे घुलमिल गया है।

क्या हम वर्द्धमान को समझने के लिए, गाधी को समझने के लिए, अपने और-और महापुरुषो को जानने के लिए, उनके जीवन का गुर पहचानने के लिए और उनके सदेशो पर अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए भीड के वाहन से नीचे उतरेंगे? हमारा धर्मचक्र अपनी ही करनी के पहियो पर

चलकर जाएगा तो जीवन लायेगा नहीं तो मीलों चलकर भी जड़ ही बनेगा। मनुष्य का अपना खुद का एक धरातल है, यदि कुछ उगाना है तो उसी पर उगाना होगा। उसकी बढ़िया उर्वरक-कर्मशक्ति-भीड के सैलाब से बचानी होगी। जो बढ़िया बीज मनुष्य अपने साथ लेकर आया है उसे वह खुद अपने ही आगन मे, अपने ही धरातल पर बोकर तो देखे, उसे उगाये तो ? ऐसा न हो कि भीड मनुष्य की बढिया धरती को रौंधती चली जाए और जिस आत्मतत्त्व को मनुष्य अपने आगन में, अपने हाथ से, अपनी करनी से उगाना चाहता है, वह उगे ही नही और इस तरह मनुष्य के हाथ से उसका सार तत्व सदा-सदा के लिए खो जाए ? भीड के घेरे से अलग हटकर मनुष्य जब अपने ही स्वधर्म मे होता है, तो उसे वे सारे कर्त्तव्य सूझते हैं जो उसे मनुष्य का जीवन जीने का रास्ता देते हैं। यह स्वधर्म भीड मे कुचल रहा है। रौंदा जा रहा है। मनुष्य को भीड का, समारोहो का, जलसो का, वाहवाही का चटकीला स्वाद छोडना होगा—ऐसा किए बिना उसके हाथ अपना ही स्वधर्म नही लगने का।

OO

११

वाणी कुण्ठित है

ब्रह्माण्ड का सर्वाधिक वाचाल प्राणी—मनुष्य आज बहुत बोल कर भी मूक है। उसकी वाणी निकम्मी साबित हो रही है। वह लगातार बोलता ही रहा है—जितना बोला गया और बोला जा रहा है, यदि वह कागज पर उतारा जाए या टेप में बन्द किया जाए तो हमारे सारे कागज-भण्डार, कलम-कारखाने और टेप यन्त्र अति लघु लगेंगे। अपना बोला अब अपनी ही पकड से बाहर है, फिर भी बोलना निरन्तर जारी है। चुप वह रह नही सकता, यह उसके लिए बहुत बडी सजा होगी। बावजूद इस तथ्य के कि वह चुप नही रह सकता, उसकी वाणी फेल हो गयी है–कुण्ठित है, गतिहीन है।

इसे भी पैरॉडॉक्स (विरोधाभास) ही समझिये कि आदमी वाणी के मामले में बहुत समृद्ध है। उसके पास लगभग दो हजार भाषाएँ है और उन्नत बोलिया। कुछ भाषाएँ श्री-सम्पन्न हैं, लाखो अद्भुत ग्रन्थो की

स्वामिनी । किसी-किसी भाषा को करोडो बोलते हैं और समझते हैं । इन समृद्ध भाषाओ के पास अनन्त शब्द-भण्डार हैं, बात कहने का एक लहजा है, लोच है और इन सबको निखारने वाले पण्डितो, शास्त्रियो, साहित्यिको और उलमाओ की नही टूटने वाली कतारें जनमती रहती हैं । ऐसा विशाल, गहरा और शताब्दियो तक टिका रहने वाला भाषा का आधार पाकर भी मनुष्य की वाणी निढाल है । अपने दिल की बात आदमी अपने ही इर्द-गिर्द नही पहुचा पा रहा है । कहना चाहता है, पर कह नही पाता । उसकी वाणी अब उस पर ही असर नही करती ।

क्या हुआ वाणी को ?

बात यह हुई कि भाषा बनी तो वाणी के लिए, पर अब वाणी से उसका नाता लगभग टूट चुका है । यो भाषाएँ खूब मँजती रही हैं, निखरती रही हैं, उनका बढिया विकास हुआ है, अपने ही लिखे, बोले पर मनुष्य फूला नही समाता, कुछ वचन और कुछ मन्त्र तो वह ऐसे बोल गया कि सदियो तक वे हवा में मँडराते रहे हैं—फिर भी वाणी अनाथ है । भाषा छिटक कर अलग जा पडी है और वाणी बुझते-बुझते अति मन्द हो चली है ।

वीणा-वादिनी मा सरस्वती ने भाषा के तार इसलिये झकृत किये थे कि उन स्वरो मे मनुष्य का हृदय बोलेगा । जो पीडा, जो घुटन, जो सवेदना उसके दिल मे उठती है उसे वह प्रकट करेगा और पडौसी इन्सान के साथ हमदर्दी रख कर उसके सुख-दुख मे हाथ बँटायेगा । पर वाणी को गति नही मिली । मूक प्राणियो की तरह मनुष्य अपनी ही दुर्दशा को, चारो ओर उफनती हिंसाओ को, अन्याओ को, अनाचारो को, भय की डरावनी शक्लो को टुकुर-टुकुर देखता रहता है और उसकी बोली बन्द हो जाती है । यो हम बहुत चहक रहे हैं, पर वाणी अधिक कुण्ठित हो गयी है, रुँध ही गयी समझिये, एकदम निष्प्रभ है ।

पूछेंगे आप अपने आप से कि ऐसा क्यो हुआ ? निरन्तर बोलते ही

रहने वाला मनुष्य अपने जज्बातो का गला घोट कर चुप क्यो हो जाता है ? उसे जो समझ में आता है, उसे जो दिखायी देता है, वह कहता क्यो नहीं ? घर, बाजार मे, शाला मे, कॉलेज में, दफ्तर मे, मदिर मे—मस्जिद मे, अपने धर्म-गुरुओ और राजनेताओ के सामने और मित्रो के बीच वह भीतर की बात बोलता क्यो नही ? क्या आपको ऐसा नही लगता कि इस कुण्ठा ने मनुष्य को तोडा है, इस चुप्पी ने उसे बिखेरा है ? आज वह अपने-आप मे सहज नही है ।

'वाणी' मनुष्य को एक उत्तम ऊर्जा-शक्ति है जो उसे इसलिए मिली है कि वह उसकी मदद से अपनी परतें खोले, अपने साथी इन्सान की परतें खोले । वाणी एक कुजी है जो हृदय के द्वार खोलने की शक्ति रखती है, परन्तु आफत के मारे मनुष्य ने अपनी इस ऊर्जा का उपयोग खुद को खोलने के बजाए खुद को छिपाने मे किया है । बच्चन ने कही लिखा है—"मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता ।" अब इस छिप-छिप कर साधु दीखने के मोह ने मनुष्य को भीतर से परास्त किया है । उसकी बढिया ऊर्जा-शक्ति 'वाणी' ठडी पड गयी है । यो बाहर से उसकी चहक निरन्तर बढी है–चुप तो वह रह नही सकता ।

ऐसा लगता है कि हमे बोलने का रोग हो गया है । ऐसा केन्सर जो ला-इलाज है । कितने भाषण-सूरमा है हमारे बीच जो एक दिन मे दस-दस, बीस-बीस भाषण फटकार जाते हैं । प्रवचनो का अन्त नहीं । कुछ जमाते तो ऐसी हैं जो बोलने का ही धन्धा करती हैं । 'आकाशवाणी' का काम सिर्फ बोलना-ही-बोलना है । पादरी, साधु, पडित, कथावाचक, पुजारी, शिक्षक, व्याख्याता, गायक, फिल्मी कलाकार, नाटककार, आदि-आदि सब अविरल बोलते रहते है, और जो व्यापार करते है वे बोले नही तो उनका व्यापार चले कैसे ? बेचारे हॉकरो और ठेलेवालो को तो गा-गाकर, चीख-चीखकर ही बेचना पडता है । कभी आपको शेयर बाजार मे और रेस के मैदान मे जाने का अवसर मिला हो तो आप बोलने की

ताकत के कायल हो गये होंगे। इतना-इतना चीख लेने पर भी मनुष्य को अपनी आवाज बड़ी धीमी लगी और उसने हर दस कदम पर ध्वनि-विस्तारक यन्त्र लगा दिये हैं। आप नहीं सुनना चाहते, फिर भी सुनना पड़ेगा—हम बोल जो रहे हैं! और इस तरह मनुष्य की वाणी पृथ्वी से उठ कर आकाश तक छा गयी है, पृथ्वी-कक्ष को लाघ कर चाद को छू गयी है। यह अलग बात है कि आप जो कहना चाहते हैं वह कह नही पा रहे हैं और मैं जो सुनना चाहता हूँ वह सुन नहीं पा रहा हूँ। मुझ तक आपका स्पन्दन नही पहुचता और मेरा स्पन्दन आपको नही छूता।

इस गोरखधन्धे मे वाणी का अपना कोई आकार ही नही रहा। वह पानी की तरह तरल बन गयी है। स्वच्छ बनती तो कोई बात थी, पर तरल बन गयी है। जब-जैसा आकार देना हो दे लीजिए। हमारी घर की बोली अलग है, दफ्तर की अलग है। किसी से काम निकालना है, तो वाणी मीठी। रौब दिखाना हो तो एकदम कर्कश। दीनो के साथ तू-तकारा और सत्तावानो के साथ जी-हुजरी। व्यापार की वाणी धर्म की वाणी से एकदम जुदा। कोर्ट-कचहरी मे तर्क-ही-तर्क, ऐसा जो मुजरिम को बचा ले। राजनीति की वाणी गोल-मटोल, जिधर चाहो लुढका दो। **इस तरह वाणी हृदय से टूट कर पारे की तरह बिखर गयी है—हमारे चारों ओर छल-छल, कल-कल बह रही है।**

गुमराह हो गई

यह कोई नयी बात मैं नही कह रहा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे आप-हम सब अच्छी तरह जानते हैं। हमारे शब्द निकम्मे हो गए हैं। मैं बोल रहा हूँ, आप सुन रहे हैं, पर भरोसा जाता रहा। वाणी तो एक-दूसरे को समझने के लिए हमने पायी थी। मैं आपके दिल मे उतरूँ और आप मेरे दिल मे गोता लगायें, परन्तु बात एकदम उलट गयी। अपनी वाक्पटुता के कारण मैं आपसे छिप जाता हूँ और आप अपनी चतुराई से खुद को

छिपा जाते हैं। मनुष्य का यह बढ़िया उपकरण आपस मे एक-दूसरे का प्यार सजोने, सहयोग पाने, करुणा जगाने और सहृदयता ढूंढने के काम मे आने के बजाय एक-दूसरे को मार गिराने, नीचा दिखाने, रौब जमाने और मूर्ख बनाने के काम मे आ रहा है। वाणी मनुष्य को अशान्त बना रही है, हिंसा भडकाने मे सहायक हो रही है और उसके सारे नीति-वचनो और धर्मादेशो को झुठला रही है। अब मैं सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, दादू, रसखान आदि-आदि प्रभु-भक्तो के कितने ही भजन गाता रहूँ तो यह केवल मन-बहलाव ही हुआ न ! वाणी की ऊर्जा-शक्ति तो मनुष्य को तोडने मे ही खर्च हो रही है।

अलग-अलग किस्म की भाषाओ और बोलियो के अलावा आदमी के पास ऐसी बोली भी है जो ध्वनि-रहित है, जिसे बिना बोले ही वह काम मे लेता है। और उसका इतना विकास हो चला है कि ज्यादा काम वह उसी से बनाने लगा है। यह बोली है तेवर की, नाराजी की, धौस की, पसन्दगी और ना-पसन्दगी की। कुछ कहने, बोलने या लिखने की जरूरत नही। आखो के, भौहो के, गर्दन के, चेहरे के सकेत ही पर्याप्त है। बिना जीभ चलाये बहुत कुछ कह देने का जादू। कुछ को तो इतना भी नही करना पडता। उनके मिजाज की ही इतनी शोहरत है कि जो चाहे वह होता जाता है। यह कम्बख्त ऐसी बोली है जो 'मास्टर-की' की तरह सम्पूर्ण मनुष्य जाति को अपने मे समेटे हुए है। आप कितनी भाषाएँ जानते होगे—दो या तीन ! कुछ भाषा-वीर शायद सात-आठ भाषाएँ लिख-बोल लेने का दावा भी कर सकते है, फिर भी हजारो भाषाएँ वे नही जानते और उतनी सीमा तक अजनबी है। पर यह 'मास्टर-की' भाषा जिसका सम्बन्ध तेवर से, मिजाज से है और मनुष्य के स्वार्थ से है वह सारे जगत् की एक ही है। इसने आदमी को बहुत तोडा है—खण्ड-खण्ड किया है। अन्यायो और अत्याचारो के खिलाफ आज आदमी की जो बोलती बन्द है उसका सीधा सम्बन्ध इस 'मास्टर-की भाषा' से है।

मेरा ख्याल है इस कड़ुवे सत्य को हम भीतर-ही-भीतर समझ रहे हैं और अति दीन बन कर हमने अपनी-अपनी वाणियो को कुण्ठित होने दिया है और निरर्थक बनने दिया है। इस आत्म-सतोष में हम पड गये है कि झगडे-पचडे की सब बातो से अलग हटकर हम राम-भजन करे, मन्त्रोच्चार करे, धर्म-ग्रन्थो का पारायण करे और यह सब भी नही करना हो तो कह दे—'सबसे भली चुप'।

पर बात इस तरह बनेगी नही। वाणी की शक्ति हमे छिपने-छिपाने या बचने-बचाने के लिए नही मिली है। न दूसरो को तोडने के लिए मिली है और न अपना अहकार बढ़ाने के लिए मिली है। वह तो हमे मनुष्य को मनुष्य से, प्राणि-जगत् से और सम्पूर्ण सृष्टि से जोडने-जुडाने के लिए मिली है। भाषाएँ तो वाणी का महज विस्तार हैं—वाणी भीतर की चीज है और भाषाएँ तथा बोलिया बाहर की। भीतर से वाणी कुन्द हो जाए, ठप्प पड जाए, निकम्मी बन जाए तो बाहर-बाहर का हमारा बोलना, चहचहाना, लिख-लिख कर ढेर कर देना क्या काम आयेगा? **भीतर से हम बुझते जाएँगे और बाहर शब्दों का अम्बार खडा कर देंगे तो इस महाबोझ से मनुष्य मरेगा ही, जीएगा तो बिल्कुल नहीं।** हमारे सारे जयघोषो से, अमरवाणियो के उच्चारणो से, कीर्तनो-भजनो-पूजा पाठो से, प्रवचनो से और इन्कलाब जिन्दाबाद के नारो से वाणी का सारा ट्रैफिक जाम (याता-यात ठप्प) है। आपके, मेरे भीतर अकुरित होने वाला प्यार, करुणा की मिठास, सवेदना की गरमी और आनन्द की सुरखी दौड ही नही पा रही है। वाणी तो कुछ दूसरे ही धन्धे मे पड गयी, उसे फुरसत ही नही है आपका-मेरा गुस्सा ढोने से, नफरत फैलाने से, अहकार के झटके देने से और स्वार्थ का जाल बिछाने से। भस्मासुर की तरह अब मनुष्य अपनी ही वाक्-शक्ति से भस्म होने जा रहा है।

बचाना चाहेंगे आप अपनी इस ऊर्जा को? कोई बहुत मुश्किल काम नही है। वाणी के तार यदि हम अपने हृदय से जोड दे तो बात सहज

हो जाएगी । वाणी की कुछ मर्यादाएँ है जिनका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है । पहली मर्यादा तो यही है कि **'सत्य का उच्चारण'** करे । जो सत्य हमें दिखायी देता हो वही सत्य बोलें । हमारा अपना राम जो भीतर है वह हमें रास्ता दिखायेगा । सत्य को छिपाने मे वाणी का उपयोग नही करे । दूसरी मर्यादा बहुत सादी है कि हम **'मितभाषी'** हो—नपे-तुले शब्दो का प्रयोग करे । सहज-सीधे होकर बोलने मे यह मर्यादा बडा साथ देगी । तीसरी कैद है कि **'निन्दा न करें'** । दोषो का जपन करने से जो दोष हमसे बाहर हैं, दूसरो के पास पडे हैं, वे हमारे भीतर दाखिल हो जाते हैं । वाणी की जड तो मन में है । वहा जो-जो कूडा पहुचेगा वह उगने लगेगा और हमारी वाणी निकम्मी बन जाएगी । चौथी मर्यादा इतनी-सी साध लें कि जो दूसरो के लिए अहितकर बात है वह न बोलें । **'हित-बुद्धि'** से हर बात जाचेगे तो वाणी बहकने से बचेगी ।

महावीर ने इसे अनुभव किया था और अपने जीवन मे उतारा था । वे बोले तब भी उनकी वाणी आत्म-धर्म से जुडी रही और चुप रहे तब भी वाणी का धर्म आत्मा ही रहा । वे कहते है —"असत्य से रहित सुखद भाषा का प्रयोग कर । देख, तेरे बोलने से किसी के व्यक्तित्व का हनन तो नही हो रहा है ?" अहिसा के साधक गाधीजी ने भी यही किया । वे कहते हैं—"पूर्ण शुद्ध बनने का अर्थ है मन से, वचन से, काया से, निर्विकार बनना, राग-द्वेषादि के परस्पर विरोधी प्रवाहो से ऊपर उठना ।" हमारी वाणी के तार इसी आत्म-धर्म से जुडे हुए हैं—लेकिन हमने प्रवाह-पतित होकर अपनी-अपनी वाणी के तार आत्म-धर्म से अलग करके चारो दिशाओ मे गुँजित स्वार्थ-धर्म से जोड लिये हैं और अब उन्ही प्रतिध्वनियो से हमारे हृदय भरते जा रहे है । और इस तरह हमारी वाणी कुण्ठित है—शत-शत गुना मुखरित होकर भी अनसुनी है । हमारे अपने ही शब्द निर्वीर्य हो गये हैं । बोल कर क्या कीजिएगा ?

○○

१२

सुनेंगे ही सुनेंगे, करेंगे कुछ नहीं ?

हमारी 'श्रवण-भक्ति' का कोई मुकाबला नही। इधर की आठ-दस पीढियो पर आप यह दोष नही मढ सकते कि वह सुनती नही, बल्कि वह श्रद्धापूर्वक दिन-रात सुन-ही-सुन रही है। हम बहुत अच्छे लिसनर-श्रोता हैं। धर्म की बात तो हम पूरे मन प्राण से सुनते है। निरन्तर रामायण-पाठ चलता रहता है, सत्यनारायण की कथाएँ होती हैं, मन्दिरो मे शास्त्र-सभाएँ जुटती हैं, मस्जिदो मे कुरान की आयतने बोली जाती हैं, गिरजाघरो मे प्रभु ईसा की प्रार्थनाएँ होती हैं और प्रवचनो की साधु-परम्परा हमारे दैनिक जीवन का अग बन गयी है। कीर्तन सारी-सारी रात चलता है। 'नाम-स्मरण' मे इस शताब्दी की पीढिया कतई पीछे नही हैं। भजन-मण्डलिया अपने रुचिकर स्वरो से मन मोह लेती हैं और हर चौराहे पर सत्सग जम जाता है।

नाम स्मरण

सूर, तुलसी, एकनाथ, तुकाराम, माधवदेव, दादू, मीरा, चैतन्य

महाप्रभु, भूधरदास, बुधजन, नानक, कबीर आदि-आदि ईश्वर-भक्त गायक आकर देखे तो मुदित हो जायेगे कि उनके भजनो का सस्वर पाठ हो रहा है और लाखो कान उन्हे सुन रहे है। पूरी-पूरी गीता, पूरी-पूरी रामायण कई बार सुन गये हैं आप। भागवत्, बाइबिल, समयसार, महावीर-वाणी, बुद्ध-वाणी, कुरान, वेद, उपनिषद् गुरु ग्रन्थ-साहब के पवित्र ग्रन्थो से हमारे कान कई-कई बार अभिमन्त्रित हो चुके है, और मन्त्र अवगाहन (स्नान) का यह क्रम निरन्तर जारी है। बटुक से लेकर मरण-शैय्या पर लेटा मनुष्य सुन ही सुन रहा है। मरण की बेला है, चेतना गायब है—पर पाठ चल रहा है। इस बुझते दीए मे सभव है कोई शब्द प्रकाश दे दे और उसका आत्म-द्वार खुल जाए। 'नाम-स्मरण' के पीछे हमारी ऐसी अटूट और अखण्ड श्रद्धा है।

'आत्मबोध' की राह मे 'श्रवण' एक सरल और सुगम उपकरण है जो सबको उपलब्ध है। मनुष्य सबसे अधिक इसी के सहारे जी रहा है। लिखे शब्द तो बहुत बाद मे सामने आते हैं और भारत जैसे देश मे यदि आप पढ-लिख नही पाये तो लिखा हुआ किस काम का! कोई सुनायेगा तभी वह आपके गले उतरेगा। इसलिये हमारे यहा 'श्रवण-परम्परा' बहुत गहरे जाकर धर्म से जुडी है। धर्माचरण में उसे महत्त्व का स्थान प्राप्त है। महत्त्व इस सीमा तक पहुचा है कि मात्र सुन लेने से मनुष्य को समाधान है। दौड-दौड कर वह धर्म-प्रतिष्ठानो मे जाता है और थोडा-बहुत सुनकर—भजन-कीर्तन, शास्त्र-प्रवचन, मन्त्रोच्चार, जाप-जप, कथा, धुन—जो सुनायी दे जाए वह सुनकर उसे बहुत राहत मिलती है। वह मानता है कि इस गाली-गलौच, निन्दा-स्तुति और छल-गाथाओ से भरी दुनिया मे इतना धर्म-लाभ तो हुआ! एक अबीज समाधान है। अखण्ड पाठ चलता है, लाउड स्पीकर की सहायता से वह दूर-दूर तक हजारो कानो में उतरता है। फुरसत नही है आदमी को सुनने की, वह मशगूल है अपने काम मे—पर कान को छू लिया धर्मोपदेश ने तो सुनाने वाले को भी समाधान है और

सुनने वाले को परम तृप्ति है। और अब हमारी यह 'श्रवण-भक्ति' धर्म-प्रतिष्ठानो से बाहर निकलकर चौराहो पर आ गयी है, मैदानो मे छा गयी है, सडको पर फैल गयी है। बडे-बडे जलसे होते हैं, धर्म-प्राण जनता जुडती है। स्वामीजी, पण्डितजी, प्रभु, उल्मा, मुल्ला, आचार्य आदि अपनी-अपनी साधना के उद्भट विद्वान तपस्वी बडे प्रभावी ढग से मनुष्य का असली धर्म मनुष्य को समझाते हैं और वह सारा-का-सारा सुनकर वह अपने को बडभागी समझता है। सन्त-वाणी को सर्वाधिक कानो तक ले जाने मे इस युग को अत्यधिक सफलता हाथ लगी है। लेकिन

जा कहा रहा है ?

क्या आपके मन मे भी यह प्रश्न उठता है कि ये सारे हमारे धर्म-प्रवचन, नीति-वचनो की घोषणा, नाम-स्मरण, प्रभु-सकीर्तन, धर्म-ग्रन्थो का पारायण इतना-इतना फैलकर भी जा कहा रहा है ? क्या हमारे ये कोटि-कोटि कान इन्हे अपने में समेट कर समाधिस्थ हो गये हैं ? उठता है यह प्रश्न आपके दिल मे ? कही ऐसा तो नही कि हमारे 'ब्रेन' के 'कम्प्यूटर' मे पेदा ही नही हो। जितना पहुँचाया है, झर जाता है, टिकता ही नही वहाँ कुछ। इधर से प्रवेश हुआ और उधर से चला गया। टेप में होता ह ऐसा—नयी ध्वनि भरती जाती है और पहले की ध्वनि इरेज होती जाती है, मिटती जाती है। पर मनुष्य इन दो आरोपो को कभी नही स्वीकारेगा। न तो उसका ब्रेन-कम्प्यूटर बेपेदा है और न उसके कान महज टेप रेकार्डर हैं। वह मानता है कि जितना उसके ब्रेन मे पहुचता है, वह सब टिकता है। अपनी इस मेधावी शक्ति के कारण ही तो मनुष्य अन्य प्राणि-जगत् की तुलना मे श्रेष्ठतम साबित हुआ है। जिस आत्म-धर्म को वह सुन रहा है वह भी तो उसी ने खोजा है। बहुत खोज की है उसने। युग-युगो की साधना के बाद उसे आत्म-प्रकाश मिला है और वही आत्म-प्रकाश अपने-अपने धर्म के खेमो मे बन्द होकर वह बाट रहा है।

बहुत मजे से चल रही है हमारी 'श्रवण-भक्ति'। न सुननेवाले को गिला है, न प्रवचन करने वालो को कोई शिकायत है। पर जा रहा है सब अकारथ। मनुष्य जहा-का-तहा है। ये सब धर्म-सस्कार उसे छू ही नही रहे हैं। जाने कैसा फिल्टर (छलनी) उसने लगा लिया है? निन्दा-द्वेष सुनता है, सारे जन्म भर याद रखता है, दूसरो के दोष भूलता ही नही, अहकार की, क्रोध की, बदला लेने की बात सारे समय स्मरण करता है, स्वार्थ की बात बुलन्द होकर उसके कान मे गूँजती रहती है, लेकिन दया की, करुणा की, क्षमा की, त्याग और सेवा की, सत्य और प्रेम की वे सब बाते जो मनुष्य के आत्म-धर्म से जुडी है, जो उसके धर्म-ग्रथो मे दोहराई गई है बार-बार कानो तक पहुँच कर भी फिल्टर हो रही है–जाने कहा जा रही है, और इस तरह हमारी 'श्रवण-साधना' निकम्मी बन गयी है।

गाधीजी को अपने अतिम दिनो मे ऐसा लगा कि—'मेरी अब कोई सुनता नही', जबकि उनकी प्रार्थना-सभाओ मे हजारो लोग आकर बैठते थे और उनके प्रवचन सुनते थे। आकाशवाणिया आज भी गाधीजी के वचन उनकी ही आवाज मे सुनाती रहती है, पर गाधी को लगा था कि उनकी कोई सुनता नही। वे बोल रहे है, लोग सुन रहे हैं, भीड है सामने, आवाज लाउड स्पीकर पर बुलन्द होकर खुले अकाश मे गूँज रही है– पर गाधी समझ रहा है कि उसे कोई सुन नही रहा है। क्या राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि पैगम्बरो ने भी अपने-अपने युग मे ऐसा ही महसूस किया होगा? तब न भी किया हो, पर आज वे यह जरूर महसूस करते होगे। अभी-अभी महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी मे हम कितने जोर से उनके वचन बोल रहे हैं, बडी निष्ठा के साथ उनका सन्देश घर-घर पहुचा रहे है। लाखो कानो मे महावीर गूँज रहा है। पर महावीर को जरूर लगता होगा कि उसने जो-जो कहा वह इस युग के मनुष्य को सुनायी नही दे रहा है। भीतर से कपाट बन्द हैं। ध्वनि कान में गूजकर ठप्प होती है, आगे बढ़ती ही नहीं।

तो फिर क्या करे ? धर्म-सभाएँ बन्द कर दें, शास्त्र-प्रवचन छोड दें ? कीर्तन, नाम-जपन, सत्सग, प्रार्थनाएँ, नमाजे, चर्च-सर्विस समेट ले ? प्रश्न बहुत तीखे हैं। कबीर को भी ऐसा ही लगा तो वह कह गया कि '

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहीं;
मनुआ तो चौदिस फिरे, यह तो सुमिरन नाहीं ।

पर कबीर की यह चेतावनी भी जहा की तहा धरी रही और 'श्रवण-भक्ति' अपने मुकाम पर उसी तरह दृढ है। मनुष्य को हरि-वचन सुनना अच्छा लगता है—भले ही वह इस कान सुने और उस कान निकाल दे। अभी तो वह बहुत जोरो से 'हरे राम, हरे कृष्ण' मे लगा है। बहुत जोरो से महावीर-सकीर्तन चला है। राम-कथाएँ अधिक जनप्रिय हुई हैं। सत्सग मे मन रमता है और रात निकल जाती है। फिल्मी सगीत की धर्म-कथाएँ सुननेवालो का जायका बढा रही है।' श्रवण-परम्परा' ने नया विस्तार पाया है, वह अपने पुरजोश पर है—इसे तोड कर क्या लीजिएगा ?

बात तोडने की है भी नही, यदि कुछ है तो जोडने की ही है। यह खोजने की जरूरत है कि इतना सुन-सुन कर भी कान हमारे बहरे क्यो है ? बाहर से सुना भीतर तक पहुचता क्यो नही ? और उधर भीतर से उठती अपनी ही आवाज मनुष्य सुनता क्यो नही ? **हर आदमी की आत्मा भीतर से कुछ बोलती है, हर घटना पर कुछ कहती है, सकेत देती है।** अच्छे कामो को थपथपाती है और जिन कृत्यो से मनुष्य को बचना चाहिए उनसे बचने के लिए आगाह करती है। पर यह भीतर का श्रवण तो बन्द है। कैसी अजीब बात है कि मनुष्य बहुत श्रद्धा के साथ, निष्ठा के साथ अपने धर्म-वचन बाहर सुनता है और समझता है, कुछ तो पुण्य-लाभ उसे हुआ, लेकिन सुने हुए ये वचन उसके भीतर पैठते नही, उधर के तार तो टूटे पडे है ! इस कारण श्रद्धापूर्वक जो सुनता है वह ऊपर-ही-ऊपर हवा में तैरता रहता है।

अपनी आवाज वह सुनता नही, बाहर से जो सुनता है वह भीतर उतरता नहीं—और इस तरह मनुष्य अपने ही आत्मबोध से बहुत दूर छिटक गया है। वह चाहता है कि उसके आसपास फैल रहे दु ख कम हो, क्रूरताएँ मिटें, करुणा-प्रेम उपजे और हमदर्दी बढे। भीतर से उग रहीं उसकी तृष्णा गले, अहकार कम हो और वह अपना राम अपने मे पा सके। यह तो करने से होगा। हम अपनी मजिल के खुद ही मालिक हैं। कुछ सुनना ही हो तो पहले अपनी सुने—वह आवाज जो अन्तरआत्मा से उठ रही है। महावीर ने कहा था—"स्वय में स्वय को ढूंढो और समझो।" पर हम अपने से तो एकदम कट गये हैं। परम श्रद्धा से सन्तन ढिग बैठ-बैठ कर अपनी जितनी गागरे भर कर लाते हैं वे सब वहा की वही खाली हो जाती है। वह पानी अन्दर नही पहुँच रहा है। इस सूखी खेती से क्या निपजेगा! हमारा सारा धर्म-लाभ, नाम-जपन बहुत निकम्मा बन गया है। कुछ करेगे तो ही जीवन हाथ लगेगा, कान बेचारे क्या करे—उनका श्रवण तो बन्द है।

○○

१३

चलो तो मंजिल आ जाए

इधर महावीर की २५ वी जन्म-शताब्दी को लेकर हमने अपने सब मदिर और तीर्थ झाड-पोछ लिये है, जीर्ण वेदिया फिर से तरो-ताजा हो गयी है और धर्म-ग्रथो पर नये बस्ते चढ गये हैं। हमारा उत्साह इससे भी आगे गया है और हमने धडाधड नयी वेदिया, नये मदिर और नये कलश पूरी सज-धज के साथ भक्तिभाव से समारोहपूर्वक स्थापित कर डाले हैं। कई पत्र-पत्रिकाये प्रकाशित हुई है, ग्रथ निकले है—महावीर को हम अपने बहुत पास ले आये है। फिर भी हम समझ रहे है कि हम उलझ गये हैं और जब-तब इस उलझन की चर्चा कर ही बैठते है। प्रश्नो की एक लम्बी कतार हमारे सामने है—उत्तर ढूंढते-ढूंढते भी कई नये प्रश्न उसमें जा खडे होते हैं।

प्रश्न जिसका उत्तर चाहिए

प्रश्न धर्म के अज्ञान का नही है। प्रश्न धर्म की खोजो का भी नही है। प्रश्न यह भी नही है कि मनुष्य के कर्त्तव्य क्या है ? दुविधा इसमें भी नही

है कि वह कौन-से काम करे और कौन-से नही करे ? यह सब हम खूब जानते हैं। अपनी-अपनी भाषा मे अपना-अपना धर्म हम खडे दम उँगलियो पर गिना सकते हैं। और ले-देकर सब धर्मो का लब्बे-लुबाब—निचोड वही है जो आप जानते है, जो वह जानता है, जो मैं जानता हूँ। गृहस्थ से लेकर सन्यासी तक सबको अपना धर्म स्पष्ट है।

फिर क्या उलझ गया है मनुष्य का ? धर्म उसके आचरण मे उतरता क्यो नही ? कितने-कितने तो व्रत-उपवास कर रहा है वह —मदिर जाता है, तीर्थ चढता है, जप-तप करता है, प्रभु-भक्ति मे वह कई-कई बार गोते लगा लेता है। कीर्तन, भजन, श्रवण, ध्यान-धारणा-मौन, सब विधिया उसने अपना ली है। यो रात-दिन कर्म करता जाता है, विपरीत दिशा मे चलता जाता है और लौट-लौट कर फिर धर्म की देहरी पर मस्तक नवाता है, मुदित मन से अपने-अपने प्रभु के निहोरे खाता है कि—'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।' धर्म के ये सारे प्रतीक——मदिर-मसजिद-गिरजाघर, कीर्तन-भजन-श्रवण और व्रत-उपवासादि—मनुष्य के धर्म-बसेरा है। 'मेरो मन अनत कहा सुख पावै, जैसे उडि जहाज को पछी पुनि जहाज पै आवै।' हम सब अपने कर्म-जगत् मे बहुत लम्बी-लम्बी उडाने ले रहे है। न जाने कितना-कितना समेट कर ला रहे है, अच्छा-बुरा जो हाथ लगता है इस आपाधापी की दुनिया मे वह सब अपनी झोली मे डालकर हम अपने धर्म-बसेरा पर सुख की सास लेने लौट आते है। और यह क्रम निरन्तर जारी है। जैसे धर्म के ये सारे प्रतीक कोई आक्सीजन मॉस्क (मसक) हो जिन्हे लगाकर हम अपने कर्म-जगत् की विषैली वायु सहने की शक्ति पा जाएँगे। **जहरीले-से-जहरीले आचरण चलेंगे, क्योकि धर्म का आक्सीजन मॉस्क हमारे साथ है।**

यह एक ऐसी माइरेज—मृगतृष्णा—है जो हमसे छूट ही नही रही है। हमने मान ही लिया है कि कर्म-जगत् में धर्म दाखिल करने की जरूरत नही है—मजिल यो ही पार हो जाएगी। बचपन मे एक कविता पढी थी—

'प्ले व्हाइल यू प्ले, लर्न व्हाइल यू लर्न' (खेल के समय खेलो, पढने के समय पढो।) यही हम कर रहे हैं—धर्म के समय धर्म, कर्म के समय कर्म। कर्म करते-करते धर्म-बसेरा पर पहुँच जाते हैं और दूसरी छलांग में सारा मनुष्य-धर्म एक और फेंककर कर्म-ससार मे कूद पडते हैं। नतीजा हमारे सामने है—इस कवायत मे मनुष्य बुरी तरह टूटा है। खडित हुआ है। छोडेगा नही वह अपने प्रभु को, टूट-टूट कर और जोर से अपने भगवान को पकडे हुए है। छीनिये उसका महावीर उससे, हाथ नहीं लगाने देगा। है कोई राम का भक्त जो अपना राम आपको दे दे ? सब देवता ठंडी छाह मे विराजमान है और बेचारा मनुष्य बाहर की तपन से तप-तप कर उनका आसरा ले रहा है।

मनुष्य ने जितना आत्मधर्म खोजा वह इस मुकाम पर आकर ठिठक गया है। लेकिन आत्मधर्म का सबध तो पूरे जीवन से है। जीवन दो टुकडो मे बाटा ही नही जा सकता—कर्म ससार अलग और धर्म-ससार अलग, यह सभव नही है। आत्म-धर्म टूट गया तो मनुष्य ही टूट गया। साबित इन्सान के लिए आत्म-धर्म पहली शर्त है। इस धुरी से अलग हटकर वह इन्सान ही नही रहता। वह धुरी क्या है, जिस पर मनुष्य को पूरे जीवन, प्रतिक्षण-प्रतिपल बने रहना है ? इस दृष्टि से सब धर्मों का यदि महत्तम निकाले तो पाच महाव्रतो मे मनुष्य का सारा धर्म परिभाषित हो गया है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और अपरिग्रह। अब ये ऐसे धर्म है जो हर साबित मनुष्य से जुडे हैं और करने के धर्म हैं, बल्कि सतत् करने के धर्म हैं। दिन मे कर लिये और रात मे छोड दिये, ऐसे धर्म नही है। घर पर पाल लिये और व्यापार मे छोड दिये, ऐसे भी नही है। सावन-भादो मे कुछ दिन सतत चला लिये और फिर बिलकुल भूल गये, ऐसे भी नही है। इनका सम्बन्ध मनुष्य की हर सास से है, हर काम से है, हर पल से है। यह टोटेलिटी—समग्रता का धर्म है। टुकडो मे चलेगा ही नही। पर इस धर्म-विज्ञान के व्यावहारिक (अप्लाइड) रूप की हमने बडी दुर्गत की है।

पच महाव्रत

'अहिंसा' को ही लीजिए। समझ हमारी इतन गहरे गयी है कि मासाहारी भी समझता है कि मनुष्य का धर्म अहिंसा है। मनुष्य हिंसक बना रहा तो टूट ही जाएगा। वह अपनी हिंसा का दायरा घटा रहा है। अहिंसा-धर्मी यहा तक बारीकी मे उतरे कि उनके आहार में से जमीकद, पत्ता-भाजी, अकुरित धान आदि आरगेनिक (जैविक) वस्तुएँ निकल गयी। यह खान-पान की अहिंसा बहुत लम्बे मीलो तक चलती चली गयी हैं। एक-एक फल, तरकारी, खाद्य वस्तुओ के आसपास अनन्त मर्यादायें बन गयी है। और सावधानीपूर्वक इन मर्यादाओ का वह पूरे जीवन पालन करता है और श्रद्धापूर्वक मानता है कि वह अहिंसा-धर्म को थामे हुए है। इस तरह शरीर तो अहिंसक बना, लेकिन मन ? मिजाज मे, व्यवहार मे, स्वभाव मे जो हिंसा-तत्त्व दाखिल है उसका क्या होगा ? हिंसा की फौज तो उसके अन्तर में डेरा डाले हुए है—घृणा, द्वेष, वैर, क्रोध उसके भीतर गहरे धसते जा रहे हैं। ऊपर से वह इतना अहिंसक है कि पत्ता-भाजी खाने मे हिंसा मानता है, पर हिंसा के घुसपैठिए उसे भीतर से घेरे हुए है। यह एक कठिन और नाजुक क्षेत्र है। शरीर को हिंसा से बचाने वाली नकारात्मक (नेगेटिव्ह) प्रक्रिया यहा नही चलेगी। अहिंसा कुछ करने के लिए कहती है। वह कहती है कि 'प्रेम' करो। विश्व के सम्पूर्ण प्राणि-जगत्—जिस-जिसमे प्राण है—उस सम्पूर्ण ससार को अपना प्यार दो, अपनी मैत्री दो। कैसे बनेगी यह बात ? बाइबिल कहती है—लव दाई नेबर—अपने पडौसी को प्यार करो। जो जहा है वहीं उसका ससार है। हिंसा व क्रूरता से भरा पडा है। इससे जूझने के लिए करुणा जगानी होगी—पहले अपने मन मे, फिर अपने आसपास के समाज मे। जैसे-जैसे करुणा बढेगी, प्रेम बढेगा। घृणा, द्वेष, वैर और क्रोध निश्चित रूप से गलेंगे। और यही हम नही कर रहे—जितना कर रहे वह अति सूक्ष्म है—नेग्लिजिबिल है। सतत बच रहे हैं खान-पान की हिंसा से, लेकिन मिजाज, स्वभाव व व्यवहार की हिंसा से

बचने के लिए प्रेम को पकड ही नही रहे है। अहिंसा की आराधना के लिए हमें प्रेम-तत्त्व को दाखिल करना होगा, जिसकी शुरुआत होगी अपने से, अपने आसपास के ससार से।

इसी तरह '**सत्य**' भी कहने भर से व्यवहार मे नही आयेगा। जीवन तो व्यवसाय, रोजी-रोटी और धधे से ही अधिक जुडा है। उसमे सत्य दाखिल नही होगा तो झूठ व धोखा-फरेबी ही पनपेगी। वही हो भी रहा है—बढते-बढते झूठ की इतनी बाढ आयी कि सत्य डूब ही गया है। पर सत्य जीये बिना अहिंसा चलेगी नही और मनुष्य टिकेगा नही। सत्य का सीधा सम्बन्ध 'निर्भयता' से है। अपने-अपने कारणो से हम इतने भय में है कि सत्य छू ही नही पाते। हमारे रोजमर्रा के व्यवहार की छोटी-छोटी बातो मे बनावटीपन, दुराव-छिपाव और टालमटूली इस कदर दाखिल हो गयी है कि सत्य वहा टिक ही नही पाता। अब सत्य को यदि उगाना हो तो वह पहले अपने ही आगन मे उगेगा। घर-बाजार मे झूठ बोलेंगे तो फिर देवालयो मे कौन-सा सत्य बोलने जाएँगे? सत्य के दर्शन पाना हो तो पहले अपने एकदम नजदीक के ससार मे छोटे-छोटे सत्य साधने होगे। उदाहरणो की जरूरत नही है—दिन भर के कार्य पर नजर दौडाये रात में तो हमे अपना ही सत्य डूबता और उगता नजर आयेगा। कब-कब बेचारा डूबा और कब-कब तिरा यह अपने आप प्रकट होगा। मुश्किल यह हुई कि हमने यह मान ही लिया है कि गृहस्थ जीवन में, व्यवसाय मे और रोजी-रोटी में झूठ ही चलेगा। इस मान्यता को तोडना होगा। हिम्मत का काम है। सहने की बात है, पर बिना सहे सत्य तो हाथ लगने का नही।

'**अचौर्य**' की बात करते ही हम तपाक् से कह देगे कि चोर तो हम नही हैं। न कभी चुराया और न चुराना चाहते हैं। इस क्षेत्र मे मनुष्य का धर्म बहुत गहरा उतरा है, जिससे हम भाग खडे हुए है। बात किसी की आख बचाकर चीज चुरा लेने की नही है, प्रकृति और प्रकृति की सहायता से प्राप्त वस्तुओं के उपभोग की है। सुबह से शाम तक हम अपने-अपने दायरे

मे न जाने कितना श्रम चुरा रहे हैं और दूसरे के लिए पेरासाइट—परोपजीवी बन गये है। हमारी सुख-सुविधा के लिए कोई और अपना जीवन लगा रहा है। यह नहीं दिखायी देने वाली चोरी है। इससे मनुष्य नहीं बचेगा तो टूटेगा और धीरे-धीरे हिंसा की ओर कदम बढायेगा। इसका व्यावहारिक रूप 'श्रम की आराधना' है। श्रम को हमने वर्तमान सामाजिक जीवन मे बहुत अप्रतिष्ठित किया है। श्रम की प्रतिष्ठा जिस तरह बढे बढाने की पहल करना ही अचौर्य की साधना है। हम खुद अपने जीवन में श्रम को अधिक से अधिक दाखिल करे और जो बिना पेरासाइट बने अपना जीवन जी रहा है उसे प्रतिष्ठा दे, तभी बात बनेगी। यह सीधे-सीधे कष्ट उठाने की बात है, पसीना बहाने की बात है।

'शील' को भी बहुत गहरे उतरना है। उसका सबध महज सेक्स से नही है। हमारे भीतर के 'सयम' से है। रोज-रोज बल्कि हर पल, हर क्षण मनुष्य के मन मे जो तृष्णा, अहकार, लिप्साएँ और अधिक-अधिक पा लेने की लालसा उगती रहती है उस पर नियत्रण रखने की बात है। अध्यात्म के क्षेत्र में ब्रह्मचर्य की जो परिभाषा हमारे धर्म-ग्रथो मे हुई है उसमे यह सब सम्मिलित है। परन्तु साधारणत हमारा ध्यान उस पर नही गया है और हमारे दैनिक जीवन मे शील गायब है। उपभोग की कोई मर्यादा नही है। बल्कि इस शताब्दी मे हर दिशा मे उपभोग ने चौकडी भरी है। 'उच्च जीवन स्तर' के लिए हमारी कोशिश जारी है और मनुष्य ने जितना पा लिया है उससे उसे असतोष ही है। शील यदि मनुष्य के धर्म का एक पहलू है तो वह सयम के माध्यम से हाथ आयेगा। इसका अभ्यास दैनिक जीवन मे करेगे तभी बात बनेगी। इसमे समग्र दृष्टि लानी होगी। हम सबका अभ्यास-क्षेत्र अलग-अलग होगा, इसमे कोई सदेह नही है। हर तरह के उपभोग पर अकुश की जरूरत है, यह स्वीकार ले और अपना अकुश स्वय ढूँढे तो मार्ग निकल आयेगा।

'अपरिग्रह' अहिंसा धर्म का रडार (दिशा-दर्शक यत्र) है। इसे ही

मनुष्य ने तोड दिया है। जिसे उपलब्ध है वह भी संग्रह में लगा है और जिसे उपलब्ध नहीं है वह भी संग्रह की तरफ उन्मुख है। महावीर के इस क्रांतिकारी विचार को हमने महाव्रतो मे तो शरीक कर लिया, लेकिन जीवन से उसे निकाल फेका है। धन और वस्तु के बाहुल्य को हमने सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी है और हर समय मनुष्य अपनी-अपनी जगह इसी दौड मे लग गया है कि वह जोड ले, ताकि प्रतिष्ठित हो जाए। अपरिग्रह की जड 'समाधान' मे है, लेकिन समाधान वाला तत्व दाखिल नहीं हो रहा है। बहुत-बहुत जोड कर भी चित्त मे बेचैनी है। समाधान एक स्वीकारात्मक —पाजिटिव्ह तत्व है। हरेक को अपना समाधान ढूंढना होगा और उसका अभ्यास करना होगा। कबीर ने कहा कि—'साईं इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाए।'

एक और तत्व मनुष्य के धर्म मे जुड गया है। वह है 'अनेकान्त'—यह भी। हम सब अपने सत्य दर्शन के दुराग्रही न बने इसलिए 'भी' तत्व की जरूरत है। इससे मनुष्य के हाथ उदारता लगी है। वह सहिष्णु बना है। इस क्षेत्र मे भी हम बहुत आगे नही बढ सके है। निर्भय होकर सहिष्णु बनना है। मै अपना सत्य नम्रता के साथ कहूँगा, लेकिन आपके सत्य को भी साथ ही साथ समझने की कोशिश करूँगा। मनुष्य को ऊँचाई देने मे यह तत्व बहुत सहायक साबित हुआ है—पर रोज के जीवन मे दुराग्रह और कट्टरता की जकड मे है हम।

आचरण

ये सब दिशाएँ है। मनुष्य ने अपना जो धर्म स्वीकारा है, उस पर चलने की पटरिया है। इन पटरियो पर चलने से हमे कोई रोकता है तो वह हमारे ही भीतर पैदा होने वाला विकार है। इसकी खोज मनुष्य कर चुका है। वह जानता है कि उसके धर्म से वह इसलिए डिगता है कि उसकी तृष्णा या लालच, उसका क्रोध, वैर, अहंकार, यश-धन-सत्ता की लिप्सा, निन्दा और बाहर-भीतर की अस्वच्छता को वह रोक नहीं पाता। अब ये

सब नेति-नेति हैं। लेकिन मनुष्य का जीवन नकारात्मक नहीं है, वह पाजि-टिव्ह—स्वीकारात्मक है। हमे तृष्णा की जगह अन्त्योदय, क्रोध की जगह करुणा, वैर के लिए क्षमा, अहकार के लिए नम्रता, यश-धन-सत्ता की लिप्सा की जगह त्याग, निन्दा के बदले गुण-दर्शन और स्वच्छता के बदले शुचिता-पवित्रता का अभ्यास करना होगा।

ये सब नयी बातें नही है। मनुष्य को अपनी दुखती रगे मालूम है। और उनका इलाज भी उसे मालूम है। बहुत समृद्ध अध्यात्म उसके हाथ मे है। उसी की पूजा के लिए वह अपने देवालयो मे जाता है। बडी निष्ठा और भावना से वह पूजा-भक्ति कर रहा है, फिर भी रगे दुखती जाती हैं और अपने ही धर्म-क्षेत्र से मनुष्य भाग खडा हुआ है। बहुत चल-चल कर भी मजिल से वह दूर जा रहा है। मैं बहुत नम्रता से यही कहना चाहता हूँ कि हम भटके बहुत हैं, चले बिलकुल नही। उलझे अधिक हैं, सुलझना चाहते ही नही। हमारी इस धारणा ने कि यह मदिर-मसजिद-गिरजाघर की चीज है, ससार त्याग कर गुफा-कन्दराओ की और सन्यासी की चीज है —हमे बहुत गुमराह किया है। लेकिन बात इससे बिलकुल अलग है। हम चाहे जिस धर्म के हो, वह हमारा धर्म, मनुष्य के जन्म से लेकर मरने तक हर घडी और हर पल के लिए है, और वह जहा है, जिस अवस्था मे है, जिस परिस्थिति मे है वहा के लिए हैं। बचपन खेल का, जवानी भोग की और बुढापा साधना का—ऐसा विभाजन है नही। धर्म देवालय मे और कर्म घर-बाजार मे, ऐसा विभाजन भी नही है। यह जो हमने अपने-आपको बाट लिया है, वह हमारी सब से कमजोर कडी है। भक्ति, पूजा, निष्ठा, आराधना, अध्ययन, तत्व, चर्चा, सन्यास आदि मे अपने उच्चतम शिखर पर चढकर भी मनुष्य बौना है। उसकी ऊँचाई उसके आचरण मे है। चले तो, जिस मजिल का राही है वहा तक अवश्य पहुँचेगा।

○○

१४

अहिंसा की आधार-शिला अपरिग्रह

अहिंसा की पीठ पर महावीर ने लिख दिया—'**अपरिग्रह**'। यह अहिंसा का बेक-बोन—मेरूदण्ड है। पर अहिंसा धर्मियो ने इसे समझने का, पकडने का और जीवन मे उतारने का कोई आग्रह नही रखा। अहिंसा या यो कहिए हिंसा न करने का आग्रह तो बहुत गहरा उतरा है—मीलो तक उतरता चला गया है, यहा तक कि हम अहिंसावाले जैविक (आरगेनिक) वस्तुओ के साथ कितनी-कितनी हिंसाएँ जुडी है, इसका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवेचन कर सकते हैं। अहिंसा-धर्मी की खाद्य सामग्री मे जमीकद, पत्ताभाजी, अकुरित अन्न, कई तरह के फल, शहद आदि पदार्थ इसलिए वर्जित है कि किसी-न-किसी रूप मे इनके साथ हिंसा का तत्त्व अधिक जुडा हुआ है। चलने और बोलने की सूक्ष्म हिंसाये भी हमने समझी हैं और उनसे बचने की मर्यादाएँ जीवन मे दाखिल की है। 'आप जैन है, रात मे तो नही खाएँगे ?'—यह वाटरमार्क (जल-चिह्न) महावीर के भक्तों ने सहज ही प्राप्त कर लिया है। वाटरमार्क तो यह होना था कि वीतरागी

महावीर का बदा है यह, अति सादा, सरल, बेलगाव और बेदाग जीवन जीता होगा। पर यह वाटरमार्क उन्हें नहीं मिला।

केवल ऊपर ऊपर चल रहे हैं

अब भले ही २५ शताब्दियां बीत गई हों, लेकिन महावीर के भक्त अहिंसा के रास्ते में बहुत ऊपर-ऊपर एकदम सतह पर चले हैं। अहिंसा का बेकबोन—अपरिग्रह छुआ ही नहीं। इसलिए अहिंसा लिजलिजी बनी रही, जीवन को नहीं पकड सकी। अहिंसा का सम्बन्ध भीतर से अधिक है, बाहर से कम है। बाहर-बाहर आप बचते रहिए हिंसा से—न किसी को मारिए, न मांसाहार करिए, बहुत शोध-शोध कर खाइए-पीजिए, झाड-फूंक कर चलिए, पर भीतर तो हिंसा खिल-खेल रही है। जीवन भर मनुष्य कितनी-कितनी तृष्णा, कितना-कितना वैर, अहंकार, लालसा, झूठ-कपट और कितनी-कितनी चोरी, कडुआ मिजाज, तीखे-पैने तेवर और आतंक पालता चला जा रहा है। इसके सामने स्लॉटर हाउस (बूचडखाने) की हिंसा बहुत छोटी पडेगी। इसलिए महावीर का सारा ध्यान भीतर की हिंसा पर था। वह कब उगती है, किस तरह पोषण पाती है, कितना मनुष्य को तोडती है और मजबूत हो-हो कर मनुष्य को मनुष्य ही नहीं रहने देती—इस पर महावीर का चिन्तन चला और बहुत खोजकर उन्होंने भीतर की इस हिंसा से लडने के लिए मनुष्य के हाथ में 'अपरिग्रह' तत्त्व थमा दिया। **बाहर की हिंसा से बचने के लिए 'प्रेम' तत्त्व दिया और भीतर की हिंसा को रोकने के लिए 'अपरिग्रह' तत्त्व दिया।**

कुछ कामयाबी मिली है मनुष्य को बाहर की हिंसा रोकने में। एटम बम गिराकर भी माना उसने यही कि यह विनाश का रास्ता है, जो इंसान का नहीं हो सकता। विनाशकारी शस्त्रों के पहाड मनुष्य ने खडे किए है, पर मानता यही है कि यह उसकी लाचारी है, आकांक्षा नहीं है। उसे धरती पर प्रेम चाहिए। प्रेम की राह दिखाने वाले जितने-जितने मसीहा हुए, वे सब उसके आराध्य देव हैं और उनकी प्रतिमाओं के आगे वह बार-

बार अपना मस्तक नमा रहा है। पर भीतर की प्रतिपल-प्रतिक्षण उगती हुई हिंसा उससे जो करवा रही है वह सम्पूर्ण मानव जाति का ऐसा डेन्जर झोन—खतरे का क्षेत्र है, जिसने मनुष्य को खण्डित कर दिया है। हम सब टूट चुके हैं। हमारा सर्वाधिक ध्यान इस बिन्दु पर टिकना चाहिए था, पर टिका नही। हमने अपरिग्रह तत्त्व को पकडा ही नही, बल्कि हम उल्टी दिशा में चल रहे हैं। हमारा जीवन अधिकाधिक परिग्रह—वस्तु-ससार, सत्ता-ससार और यश-ससार मे लिप्त है।

वस्तुओ की रेलम-ठेल है—एक जाती है और दस आती है। मनुष्य वस्तुओ से घिर गया है। एक अम्बार है उसके सामने—सब-का-सब पाना चाहता है। भीतर से उगनेवाली लालसा ने उसे जकड लिया है। वस्तु नही है, प्राप्त होने वाली भी नही है, पर लालसा बढ रही है। वस्तु आपके पास है और उसकी ईर्ष्या मेरे भीतर हरी हो रही है। सत्ता आपको मिली, छटपटा मैं रहा हूँ। आपका यश मुझे सहन नही है, उसे तोडने मे लगा हूँ। यह जो वस्तुओ के होने या न होने, सत्ता के पाने या न पाने और यश को बटोरने या न बटोरने से जुडी तृष्णा, लालसा, ईर्ष्या और पा लेने की आकाक्षा का परिग्रह है, वह इतना गहरा और विशाल समुद्र है कि उसमे हमारी सारी अहिंसा डूब रही है।

अहिंसा हाथ नही लग रही है

इसलिए प्रश्न उठता है कि महावीर को हम अहिंसा की बाजू से समझे कि अपरिग्रह की बाजू से। ये एक ही सिक्के की दो बाजुएँ है। इधर से देखो तो अहिंसा है और उधर से समझो तो अपरिग्रह है, बल्कि अपरिग्रह की रीढ पर अहिंसा टिकी हुई है। किसी दूसरे धरातल पर वह नही उगेगी। मासाहार छोडने और पत्ताभाजी आदि से परहेज करने की अहिंसा परिग्रह के साथ आप चला लें तो चला लें। लेकिन प्रेम की अहिंसा—सम्पूर्ण प्राणि-जगत् से एक-रूप होने की अहिंसा का सीधा सम्बन्ध छोड देने से है, इस

विवेक से है कि मैं कितना लूं, जोड़ूं और कितने मे अपना समाधान ढूंढूं ।
ऐसा हम बिलकुल नही कर रहे हैं —वह हमारा लक्ष्य ही नही रहा है ।
लक्ष्य तो यह बना है कि मैं अधिकाधिक पाऊँ, प्रतिष्ठित होऊ और विपुल
वैभव का स्वामी बनूं । यह आकाक्षा पूरी होती है तो वह मानता है कि
पुण्य उसके साथ है और यह सब उसके पल्ले नही पडता तो मानता है कि
उसका पाप का उदय है । सारे दरिद्री, कगाल, वस्तुहीन लोग, जिन्हें कोई
पद भी प्राप्त नही है और कोई पूछता भी नही, बडे बेनसीब मान लिये
गये है । भीतर-ही-भीतर मनुष्य का यही नार्म (मानदड) बन गया है ।

इधर अहिंसा की साधना मे वह शाकाहारी बना है । शाकाहार मे
भी वह आरगेनिक (जैविक) वस्तुओ को छोडने का व्रत लेता है, लेकिन
उसके जीवन का कार्य इससे विपरीत है । वहा उसे चाहिए, और-और
चाहिए, किसी भी तरह चाहिए । जिसने पा लिया, वह भीतर से भी खुश
है और बाहर से भी प्रतिष्ठित है । एक चेन (शृखला) है, जो शोषण
पर टिकी है । मनुष्य ने प्राणि जगत् का और प्रकृति का खूब शोषण किया
है और अब पूरी तरह अपने ही शोषण मे लगा है । सब एक दूसरे का
शृखलाबद्ध शोषण कर रहे है । और मजा यह है कि हरेक अपने को शोषित
समझता है । यह जो शोषण, अन्याय, छीना-झपटी और भीतर-ही-भीतर
एक-दूसरे को तोड देने की जीवन-पद्धति बनी है, वह अहिसा की तर्ज नही
है और इस तरह महावीर की अहिंसा चकनाचूर है । हम गर्व कर सके,
ऐसा कुछ रह नही गया है । महावीर अहिंसा को जो धरातल देना चाहते
थे, वह शब्दो मे तो स्वीकारा गया, लेकिन कृति में शोषण का धरातल बना
रहा । इस धरातल पर प्रेम नही उगेगा । कुछ उगेगा तो ईर्ष्या और वैर
ही उगेगा । तृष्णा और लालसा ही फूलेगी । अतृप्त और टूटे हुए मनुष्य के
जीवन मे अहिंसा कैसे टिकेगी ?

मैं मानता हूँ कि अहिसा की आधार-शिला—अपरिग्रह—को नही
पकडेगे तो हमारे चारो ओर हिंसाएँ कास की तरह उगती रहेंगी । हम देख

रहे हैं कि अगणित छोटी-छोटी हिंसाओ से मनुष्य घिरा हुआ है। उस बोझ को ढोते-ढोते बहुत बौना हो गया है और टूट गया है। एक ही मनुष्य का एक भाग अहिंसा और प्रेम की बात करता है और उसी का दूसरा भाग जमकर शोषण मे और अन्याय मे लगा है—खूब अहकार और वैर फैला रहा है। सम्पूर्ण मानव जाति हिंसा के उपकरणो को लेकर जी रही है—फौज, पुलिस, भय, दड, जेल, लाचारी और क्रूरता। महावीर को शरीर-हिंसा (फीजिकल वायोलेन्स) की कभी चिंता नही रही। मनुष्य की आकाक्षाओ मे पनपनेवाली छोटी-छोटी अनन्त हिंसाओ के मुकाबले बूचडखाने की हिंसा बहुत छोटी चीज है। महावीर मनुष्य को भीतर के सैलाब से बचाना चाहते थे और इसीलिए उन्होने अपनी अहिंसा को 'अपरिग्रह' का आधार दिया, ताकि मनुष्य अपने भीतर उगने-वाली छोटी-छोटी हिंसाओ से बच सके। भीतर की हिंसाओ से बचेगा तो बाहर की हत्याये, युद्ध, कसाईखाने अपने-आप समाप्त हो जायेगे।

लेकिन महावीर का यह अपरिग्रह-तत्त्व हमारी आख से ओझल है। यो साधुओ ने और श्रावको ने भी बहुत-कुछ छोडा है और रोज-रोज छोडने का ही अभ्यास कर रहे हैं। लेकिन जैसे केवल हिंसा न करने से अहिंसा नही सधती, वैसे ही वस्तुओ को बाहर से छोड देने से अपरिग्रह भी नही सधता। अपरिग्रह का सीधा सम्बन्ध वस्तु से नही, वस्तु से लिप्त होने से है। हम सब जानते हैं कि छोड-छोड कर भी हम कितने-कितने लिप्त हैं। अधिकाधिक लिप्त होते ही जा रहे हैं। सादा-सरल जीवन प्रतिष्ठित नही है। मेहनत से कमाई सूखी रोटी लाचारी है, समाधान नही, वस्तुहीन मनुष्य पर वस्तु न होने की चिन्ता का अधिक बोझ लदा है। हमारा सारा प्यार, सम्मान, नेह और आदर 'त्याग' के पक्ष मे पहुचना चाहिए था, पर वह बटोरने वाले की गोद मे ही जा रहा है। मनुष्य की आखें वही टिकी हैं, जहा वैभव है, अधिकार है।

पहले परिग्रह फिर अहिंसा

अहिंसा की तरह अपरिग्रह के क्षेत्र मे भी मनुष्य सतह पर आ गया है। कर्म-क्षेत्र मे ढेर सारी हिंसाएँ करता है और थाली मे से कुछ चीजें अहिंसा के नाम से हटा देता है। इसी तरह ढेर सारा बटोरता है और अपरिग्रह या त्याग के नाम से कुछ मुट्ठी भर दे देता है। यह सतही अहिंसा या सतही अपरिग्रह महावीर का रास्ता नही है। थोडी अहिंसा पाल ली और थोडा त्याग कर दिया, यह महावीर को स्वीकार नही है। महावीर ने मनुष्य के सामने टोटेलिटी का—समग्रता का—धर्म रखा। उनकी अहिंसा टुकडो मे चलेगी ही नही। मनुष्य को अपना पूरा जीवन बदलना होगा—बाहर से भी और भीतर से भी। अभी तो वह बहुत इतमीनान से बटोरने मे लगा है। अपने भीतर उगनेवाली हिंसाएँ और उसके प्रतिफल उसे दिखायी ही नहीं दे रहे हे। कुछ समय वह धर्म के स्वर अलाप लेता है और शेष जीवन बेधडक शोषण की पटरियो पर दौडता जाता है। इसमे कुछ भी अटपटापन उसे नही लग रहा है।

अब इकॉलाजी (परिस्थिति-विज्ञान) ने खतरे की घटी बजाई है। जीवन-स्तर की बेतहाशा दौड मे इन्सान ने प्रकृति को इतना दुहा है कि उसके सारे भडार ची बोल रहे है। मनुष्य के उपभोग का सामान प्रकृति से मिल पाएगा या नही, यह खतरा सामने है। आप महावीर की अहिंसा और अपरिग्रह को भूल जाइए, फिर भी जीवन के लिए प्रकृति, प्राणि-जगत् और मनुष्य के बीच गहरे विवेकशील सामजस्य की जरूरत है। **हमे अपना उपभोग सीमित करना होगा।** जितनी जरूरते हैं, उतना ही लेना होगा और बदले मे प्रकृति को वह सब लौटाना होगा, जो उसे तोडे नही, बल्कि पुष्ट करे। हमने प्रकृति को बेशुमार जहरीली गैसे, गन्दगी, नाशक दवाइया, केमिकल्स, दूषित वायुमण्डल दिया है। यदि उपभोग की वस्तुएँ सीमित नही हुई और हमारे कल-कारखाने वे सब सामान उगलते रहे, जो एक ओर

तो मनुष्य को तोड रहे है और दूसरी ओर प्रकृति का विनाश कर रहे हैं, तो अनचाहे हम हिसा का ही वरण कर रहे है और करेगे। ऐसी स्थिति मे हमारी यह देवालयी और रसोईघर की अहिसा हमारा कितना साथ देगी ? अहिसा तभी जीवन मे उतरेगी जब कि मनुष्य उसकी आधार-शिला—बेकबोन—अपरिग्रह को जीवन मे लायगा।

परिग्रह और अपरिग्रह का सीधा सम्बन्ध हमारे कार्य—जीवन से है। जिस धर्म को हम ग्रहण करना चाहते हैं, जिसकी जैय-जयकार हम मदिरो, मस्जिदो और गिरजाघरो मे कर रहे है, वह भजने से हाथ नही आने का। वह तो तभी हाथ आयगा जब उसे कर्म-जीवन मे दाखिल करेगे। अहिसा-धर्मियो को अपना पैर अहिसा की बेकबोन—अपरिग्रह—पर धरना होगा, तभी वे हिसा के कष्ट भरे रास्ते पर चल सकेगे। आज तक चला सब अकारथ हुआ, यही समझिए। पहले अपरिग्रह को पकडिए, अहिसा अपने-आप सध जायगी।

○○

१५

परिग्रह : मूर्ति का

धीरे-धीरे हमारे पास कई आदिनाथ, हजारो नेमिनाथ, एक-दो लाख पार्श्वनाथ और दस-बीस लाख महावीर एकत्र हो गए है। हमने बहुत भक्तिभाव से, निष्ठापूर्वक पावन-पवित्र समारोहो के बीच इन मूर्तियो की स्थापना की है। इनके लिए एक-मे-एक बढिया मन्दिर रचे है—भव्य, कलापूर्ण और मन को मोह लेने वाले। प्रकृति की सुरम्य छबियो के बीच हमने सुन्दर उपवन, पहाड और जलाशयो के किनारे ढूंढे है, जहा अपनी सम्पूर्ण छटा लिये हमारे तीर्थ अपनी गरिमा के साथ सिर ऊचा किये खडे हैं। और हमारे ये आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर तथा और-और तीर्थंकर वहा विराजमान है।

ऐसा पुण्य कोई अकेले हमारे ही हाथ नही लगा है। अपने-अपने देवताओ की मनभावनी मूर्तिया—राम-सीता, कृष्ण-राधा, शिव-पार्वती, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, बुद्ध, ईसा, गणेश, हनुमान आदि-आदि महाप्रभुओ की सजी-धजी प्रतिमाएँ लाखो मदिरो मे विराजमान हैं और हमारी धरती

उनसे सुशोभित है ।

इन मूर्तियो के लिए हम ढूंढ-ढूंढ कर पाषाण, रग-बिरगे सगमर्मर, स्फटिक आदि लाए हैं और हमारे सग-तराशो ने बडे मनोयोग से उन पर अपनी छैनिया चलायी है । चिकने-खुरदरे पत्थरो पर करुणा, शान्ति, धैर्य, समता आदि सम्यक् भावो को उतार लाने मे उन्हे गजब की सफलता मिली है। एकदम सजीव प्रतिमाएँ—बोलती कुछ नही, लेकिन मनुष्य अपने भीतर जिन गुणो की खोज में लगा है, वे सब प्रतिमाओ के चेहरो पर उभर आये है । बिना बोले ही वे कुछ कहती है मनुष्य से । अपने-अपने प्रभु के सामने खडा मनुष्य श्रद्धा के साथ उस अबोली वाणी को सुनता है और आत्मविभोर होता है ।

हमारा मूर्ति प्रेम

फिर भी हमे समाधान नही है । इतने-इतने पावन तीर्थों का, मदिरो का, गिरजाघरो का और लाखो-लाख प्रतिमाओ का मालिक मनुष्य नयी-नयी मूर्तियो की रचना में लगा ही हुआ है । बल्कि एक होड बदी है, कौन कितना भव्य, विशाल, कलापूर्ण मदिर खडा करता है ! कितनी सुन्दर मनमोहनी मूर्ति विराजमान करवाता है !! शताब्दिया आती है और हम दौड लगाने लगते हैं । अब तो हमारा प्रतिमा-प्रेम इतना उमडा है कि हमारी छैनिया महापुरुषो की भी मूर्तिया उगलने लगी हैं । तीर्थंकरो और भगवानो से उतर कर हम नेताओ के चरणो मे नत-मस्तक है । चौराहे-चौराहे पर गाधी, जवाहर, विवेकानन्द, टैगोर, शिवाजी, अम्बेडकर, पटेल आदि महापुरुष खडे हो गए हैं । एकदम खुले मे धूप-वर्षा-सर्दी मे साधना कर रहे है । इनके चारो ओर अपनी ही उधेड-बुन मे चक्कर काटता मनुष्य कभी तो इनसे प्रेरित होगा !!

इधर महावीर के २५०० वे निर्वाण-वर्ष मे हमारी श्रद्धा मे तूफान आ गया है और हम मुक्त मन से फिर उसे घडने लग गये हैं । हजारो

सग-मर्मर निहाल हो गए—पता नही वे कहा जडे जाते, भक्तो के हाथ पड गये तो महावीर हो गये। ये इतने सारे नये महावीर अब अपनी-अपनी नयी वेदियो और मदिरो मे प्रतिष्ठित होकर विराज गये हैं। हम मुदित है कि हमने फिर कुछ पराक्रम इस महापर्व मे कर डाला।

हमारी इस मन्दिर और मूर्ति-परम्परा से कितनी आत्म-साधना हुई और मनुष्य का आत्म-बल कितना ऊचा उठा, इसका कोई पैमाना हमारे पास नहीं है, लेकिन कुछ चीज हमारे हाथ सेत-मेत मे लग गयी है। हमारे सारे तीर्थ और बढिया मदिर सारे देश मे फैल गये हैं जो अनूठी कलाकृतियो से सज्जित है। प्रकृति के समृद्धतम सौन्दर्य के बीच स्थित ये तीर्थ मनुष्य को आकर्षित करते है और अपने ही खूँटे से बधे रहने वाला यह प्राणी इस बहाने चरैवेति-चरैवेति कर रहा है। मदिरो ने हमे आराधना सिखाई है, भक्ति दी है, हमारे हृदय मे निष्ठा जगाई है। इस आस्था को बल मिला है कि अपने-अपने महाप्रभुओ की तरह वह भी अपने अन्तर मे छिपी अनन्त शक्ति के द्वार खोल सकता है। प्रतिमाओ के चेहरो पर खिली राम की मर्यादा, कृष्ण का प्रेम, ईसा का बलिदान, बुद्ध की करुणा, शिव का तेज, ब्रह्मा की उदारता तथा महावीर की वीत-रागता दिलो को छूती है। उनके समक्ष हम श्रद्धावनत है।

और ठीक यही वह पाइन्ट—बिन्दु है—जहा से हम तेज ढलान पर फिसल पडते हैं। जो करुणा हमारे दिलो मे जगनी चाहिए थी और करनी मे बहनी चाहिए थी वह हमने बुद्ध के ही पास रहने दी। जिस मर्यादा का सकल्प हममे जगना चाहिए था वह राम के सुपुर्द। जिस प्रेम से अभिभूत होकर हमे अपने आसपास के ससार मे सेवारत होना चाहिए था वह कृष्ण को अर्पित। ईसा का बलिदान मूर्ति के पीछे बने क्रास को समर्पित। और जो वीतरागता हमारे हृदय मे फैलनी चाहिए थी, हमारे पूरे जीवन मे छानी चाहिए थी वह सग-मर्मर के महावीर को सौपकर हम निश्चिन्त है। हमने अपने लिए राग पाल लिये हैं, वीतरागता की चिन्ता महावीर करेगे।

साथ ही, हमे यह जरा पसन्द नही है कि हमारे राम का चेहरा कठोर हो, कृष्ण भौंडे बन जाएँ, ईसा आंखे तरेरते दिखाई दे, बुद्ध गुस्से से भरे हो और महावीर के चेहरे पर तृष्णा तैर रही हो। एक भव्य मदिर में मैं गया तो वहां खडी आदमकद बुद्ध प्रतिमा के होठो पर हल्का गुलाबी रग पुता था, मानो वह लिपस्टिक वाला बुद्ध हो। भक्तो की भौहे इसी एक बात पर तन गयी कि यह क्या सूझा मदिर वालो को ? इतनी भव्य प्रतिमा को लिपस्टिक लगाकर बिगाड क्यो डाला ? हममे इतनी समझ है कि राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, ईसा आदि हमारे आराध्य देव शरीर को सजाकर श्रद्धेय नही हुए है—उनका आत्म-तत्व जागा और उनके जीवन मे उतरा इसी कारण वे हमारे तीर्थंकर बन गये है। मनुष्य को यही बोध देने मे उनका जीवन लगा है। उनकी सारी तपस्या आत्मबोध के लिए थी। खूब तप-तप कर, सह-सह कर, खोज-खोज कर उन्होने यह अमृत प्राप्त किया है कि मनुष्य का रास्ता शरीर की पटरी नहीं है, उसे चलना है तो आत्मा की ही पटरी पर चलना है।

मृगतृष्णा

पर यह क्या करिश्मा हुआ कि उनकी वीतरागता पाषाण पर तो उतर सकी, पर उस प्रतिमा के पूजक मनुष्य के हृदय में नहीं उतर पायी। सग-तराश, ऊबड-खाबड पत्थर को घड-घडकर एक बढिया आकृति देते हैं और उसमे उन सब भावो को उतार लाते है जिन्हे महावीर जीये थे। जड को चेतन बना देते हैं और हम सब ऐसे सग-तराश है कि अपना ही चेतन छोल-छील कर फेंक रहे हैं और जडता उभार रहे है। हमारी छैनिया एक-दूसरे पर चल रही हैं। मैं आपके सारे गुण तराश-तराश कर मिट्टी मे मिला रहा हूँ और आप मेरे सारे गुणो पर हथोडा चला रहे है। खूब दोष-दर्शन हो रहा है। द्वेष-वैर एकदम पैने बनकर तन गये है। तृष्णाएँ चिकनी और चमकदार हो गयी है। लोभ हमारी आखो मे उतर आया है और स्वार्थ हमारे रोये-रोये मे बिंध गया है।

मनुष्य एक बडा मूर्तिकार है—प्रकृति उसके हाथ मे घडी की हर टिक् के साथ एक प्रतिमा सौंप रही है, लो इसे घडो। जिस भव्य, सौम्य और सम्यक् मूर्ति के दर्शन तुम अपने तीर्थों में करना चाहते हो वही भव्यता, सौम्यता और सम्यक् तत्व इस प्रतिमा को दे सकते हो तो दो। पर इन चेतन प्रतिमाओ को समाज की आपाधापी, घृणा-द्वेष, हिंसा-झूठ और लूट-खसौट को सौपकर हम कोई बढिया धवल सग-मर्मर ढूँढ रहे हैं, चमकदार स्फटिक ढूँढ रहे हैं और छाट रहे है कि अच्छा महावीर किस पत्थर मे से बनेगा। इस तरह हम अपनी सारी करुणा, अपना सारा त्याग, धैर्य, क्षमा, निर्वैरता, सत्य, अहिंसा और वीतरागता मनोयोग से तराशी हुई प्रतिमाओ को देकर अपनी झोली मे सारी दुनियादारी, भोग-उपभोग की सामग्री और तृष्णा, क्रोध, भय, हिंसा आदि का बोझ लेकर सी-सा (वजन के तौल से ऊपर-नीचे झूलनेवाला बच्चो का एक खेल) मे लगे है। हमे रोज-रोज वीतरागता के दर्शन का लाभ मिल रहा है और साथ ही साथ अपने-अपने राग मे जी-भर कर तैरने का आनन्द भी बना हुआ है। 'सी-सा' का यह खेल निरन्तर चल रहा है। हजारो साल से हमे जो विरासत अपने तीर्थों की, मन्दिरो की, भव्य से भव्य प्रतिमाओ की मिली है, वह सारा खजाना छोटा पड गया है। इधर गृहस्थ का मन कहता है कि मन्दिर और मूर्ति की इस लम्बी शृखला मे मै कुछ और जोड दूं, और वह अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा लेकर, अपने तपस्वी ऋषि-मुनियो का आशीर्वाद पाकर फिर-फिर किसी पाषाण की खोज मे निकल पडता है। उसकी सारी शक्ति पाषाण को आकार देने मे और ईट-चूने की भव्य इमारत बनाने मे लग जाती है। मूर्ति तैयार है, मन्दिर तैयार है, पच-कल्याणक प्रतिष्ठा हो रही है और अपने रचे वीतरागी प्रस्तर महावीर का मा-बाप बनने मे उसे अनोखा सुख मिल रहा है। लीजिए हमारी प्रतिमा-परम्परा और आगे बढ गयी। विरासत मे कुछ मन्दिर और जुड गये। एक अजीब माइरेज—मृगतृष्णा।

मन्दिर आम-साधना की कर्मशाला बने

मैं आपको किसी अश्रद्धा के क्षेत्र में नही उतार रहा—मन्दिर हमारी भावनाओ के न्यूक्लियस (मध्य बिन्दु) हैं। प्रतिमाएँ हमारे मान्य लक्ष्यों की प्रतीक हैं। मनुष्य अपनी आत्म-साधना के जिस शिखर तक ऊचा उठना चाहता है, उस आरोहण में प्रतिमा से उसे प्रेरणा मिलती है, सकल्प-वीरता मिलती है। प्रश्न यह है कि यह उपलब्धि हमारे साथ लग रही है क्या? या हम जाने-अनजाने परिग्रह के एक नये ससार मे गोता लगा गये हैं? वस्तुओ का, धन और सत्ता का, यश और सम्मान का, वैभव का परिग्रह तो हम जान-बूझ कर जुटा रहे हैं—यह समझते हुए भी कि यह बोझ हमे भीतर से तोड देगा, फिर भी हम एक बार यह बोझ उठा ही लेना चाहते है। जिस तरह हाथ लग जाए, पा लेना चाहते हैं। यह परिग्रह तो नेसेसरी इविल—अनिवार्य बुराई— के रूप मे हमसे चिपक गया है। लेकिन साथ ही साथ मैं बहुत नम्रता से कहना चाहता हूँ कि हमारे तीर्थ, मन्दिर, प्रतिमाएँ और मूर्तिया भी इसी तराजू पर चढ गई हैं। परिग्रह के सैलाब ने उन्हे भी अपने प्रवाह मे घसीट लिया है। यह एक ऐसा सूक्ष्म परिग्रह है जो दिखाई नही देता, लेकिन हममे गहरा पैठ गया है। कभी हमारा विवेक जागे तो किसी दिन सभव है हम अपना सग्रहीत धन-वैभव और माया छोड सकेगे, उससे अपना पल्ला छुडाकर अपने 'स्व' को पहचान सकेगे। लेकिन मूर्तियो से मुँह मोडने की हिम्मत हम शायद नही कर पाये। यह भी हमसे कहते नही बनेगा कि बस और नये-नये महावीर हमे नही चाहिए, जितने प्रतिष्ठित कर लिये बहुत हैं, जितने मदिर रच लिये पर्याप्त है। पर मैं इस साहस को पाने की आराधना जरूर करना चाहता हूँ—आपका और मेरा मन इस बिन्दु पर अवश्य लाना चाहता हूँ कि प्रतिमाओ को जो शाति, जो समाधान, जो वीतरागता, जो समता, जो धैर्य और जो सकल्पशूरता हमने सौंपी है तथा मदिरो को जो पवित्रता प्रदान की है, वह हमारे हाथ लगे। जिस तरह चिकित्सालयो में हम अपने

थके-मादे जर्जरित शरीर को लेकर पुन स्वस्थ होने की गरज से चले जाते हैं, उसी तरह अपने-अपने कलुषित, टूटे हुए, बिखरे हुए मन लेकर हम अपना आत्मबल पुन पाने मदिरो मे जा सकें और प्रतिमाएँ हमे अपना मैल धोने की प्रेरणा दे सके। मन्दिर आत्म-साधना की वर्कशाप—कर्मशाला बन जाए। एकसरे का एक ऐसा स्थान जहा मैं देख सकूं कि अपने बाहर के जीवन को जीने मे भीतर से मैं कहा-कहा से टूटा हूँ और क्या करने से फिर से जुड़ूंगा और आत्मजयी बनूंगा। मन्दिरो और प्रतिमाओ से भी यदि मैं काम्प्लेसेन्सी—झूठी आत्मतुष्ठी और आत्म-साधना का अहकार खीचता रहूँगा तो मेरे बाहर के स्वर्ण भण्डार और मन्दिर के इस मूर्ति-भण्डार मे क्या अन्तर रह जाएगा ?

आज तो हमारे नॉर्म—प्रतिमान—दो दिशाओ के राही हैं। मन्दिर मे आत्मनिष्ठा और उसकी देहरी से उतरते ही शरीर-निष्ठा। जैसे कोई लाल और हरी बत्ती के अलग-अलग स्विच लगे हो। देहरी लाघते ही ग्रीन लाइट—दौडो, जितना लेते बने लो। देहरी चढते ही लाल लाइट—रुक जाओ, जितना छोडते बने छोडो। इससे बढकर कोई और आत्मश्लाघा नही हो सकती। समय आ गया है कि हम अपने नार्म—मन्दिर के प्रतिमान बदल डाले। उस पूजा-अर्चना-आराधना, घटे-घडियाल, शख और महाशख, जय-जयकार और भक्ति से बचे जो हमे केवल धर्मलिप्त होने का भ्रम दे रहे हैं। नाम-जपन, पाठ-पूजा और शास्त्र-प्रवचन भी हमे बहुत दूर नही ले जा सकेगे। कुछ कर लिया इतना ही सुख इसमे समाया है। यह तो हुआ मन्दिर का नार्म। और धन-सत्ता-यश की भूख को पूरा करने मे हमारी बे-लगाम सासारिक दौड, जैसे भी बने अपने लिए पा लेने की खटपट और इस अधाधुँधी मे सत्य, अहिंसा और करुणा को हर समय दाव पर चढाने की हमारी जुआवृत्ति बाहर का नार्म बन गया है। क्या हम अपने मदिरो को इन दोनो नार्म के समन्वय की कर्म-शाला—वर्कशाप नही बना सकते ? और यदि नहीं बना सकते तो हमारी लाखो-लाख

भव्य प्रतिमाएँ और उनके कलापूर्ण आवास मन्दिर 'परिग्रह' का एक ऐसा बोझ है जिसे हम सब मिलकर सामूहिक रूप से ढो रहे है और शायद आगे भी ढोते चले जायेगे ।

भगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण-वर्ष के इस अतिम चरण मे हम यह महा-पराक्रम कर सकते है । जो करुणा सगमर्मर की पाषाण प्रतिमा को सौपी है वह हमारे दिल मे उतरे, जो समाधान प्रस्तर-मूर्तियो के चेहरो पर छाया है वह हमे नसीब हो जाए, जो वीतरागता मूर्तियो का भामडल बन गई है वह पाने के लिए हमारा मन तैयार हो जाए, परम सतोष की जो मुसकराहट इन पाषाण-प्रतिमाओ पर खेल रही है वह हम सब भक्तो के हृदय मे फैल जाए । यह सब सभव है, बशर्ते कि हम अपने मदिरो को बाहर और भीतर के नार्म को जोडने की वर्कशाप—कर्मशाला बना दे। ऐसा करने का साहस हममे आ जाए और हम कर लें यह काम तो यह हमारी सबसे बडी वीर-परिनिर्वाण की आराधना होगी ।

यह कितना तीखा व्यग है कि हमारी निर्वसना परम वीतरागी सौम्य और भव्य भावना की धारिणी प्रतिमाएँ हमारे दिलो को तो नही छू पा रही लेकिन चुराये जाने की महज एक वस्तु बन गई है । काश, हमने अपने को तराशा होता तो एक नया मनुष्य इस युग को मिलता और वह सारा चेतन तत्त्व जो मनुष्य ने सगमर्मर को दे दिया है, उसका अपना होता और वह जड बनने से बचता ।

○○

१६

अनेकान्त के बिना अहिंसा कितनी पंगु !

अहिंसा एक मुकाम पर आकर ठिठक गयी है। जितना चल पायी, उससे इतना अभ्यास अहिंसा-धर्मी को हुआ कि वह जीव-हत्या से बचे। उसके हाथो से हथियार छूट रहे है और उसके पैर चीटिया बचा रहे है। मनुष्य को यह विश्वास आया कि उसका रास्ता हनन का नही है। मार-काट, हत्या, जोर-जबरदस्ती, लूट, आगजनी, युद्ध आदि बर्बर तरीके है और ये सारे व्यवहार मानवोचित नही है। मासाहार से उसका चित्त हटता जा रहा है। उसने समझा कि आत्मा की ताकत शरीर की ताकत से अनन्त गुनी है। कम-से-कम, मनुष्य और मनुष्य के बीच का व्यवहार अहिसा का हो, यह भावना उसकी बनी है। जीव-दया वालो ने प्राणि-जगत् के साथ भी अपना नेह जोडा है और उनकी करुणा सब जीवो तक पहुँची है।

हिसा के उपकरण

लेकिन अहिंसा की इस मजिल पर खडा मनुष्य जब अपने चारो ओर

की दुनिया पर नजर डालता है तो देखता है कि उसने जिस 'करुणा' को जगाया और हजारो साल के अभ्यास के बाद जो 'अहिंसा-धर्म' उसके हाथ लगा वह तो समुद्र मे बूंद के समान है। वह खुद और उसका यह ससार अहिंसा के बजाय हिंसा से ही अधिक घिरा हुआ है। उसके निजी जीवन को ही लीजिए—मा अपने बेटे को समझाते-समझाते तग आकर तडाक से एक चाटा जड देती है। मा समझती है वह जीत गयी, बच्चा हार गया। गरीब कुछ कहना चाहता है, अपना दु ख प्रकट करना चाहता है, पर मालिक के तेवर देखकर सहम गया है। बहुत गुस्से मे है, पर उसके हाथ मालिक पर नही उठ रहे है—उसन अपने मन को मार लिया है। मालिक समझता है, उसकी चल गयी। जनता सत्ता के कान तक कोई बात पहुचाना चाहती है, नही पहुचती है तो वह तोड-फोड पर उतर आती है और बदले मे उधर से लाठिया बरसती है, गोलिया चलती है, कुछ पकड-धकड होती है। बस अब मामला शान्त है—करफ्यू उठ गया है, पुलिस हट गयी है, जनता ने घुटने टेक दिये हैं। शासन समझता है वह जीत गया। कभी-कभी जनता अपने आक्रोश से शासन को दबा लेती है और जीत अनुभव करती है। राष्ट्र और राष्ट्र के बीच तनाव चल रहा है। तौला यह जा रहा है कि शस्त्रो की ताकत और गुटो का दबाव किसके पास ज्यादा है। बात किसकी सही है और न्याय कहा खडा है, इसे नही देखता कोई। सिर्फ ताकत-आजमाई, और चाहे जब युद्ध भडक उठते है। घर से लेकर बाजार तक और गाव से लेकर राष्ट्र तक यह जो ताकत-आजमाई हो रही है वही हिंसा का 'ब्रीडिंग ग्राउण्ड—जन्म-स्थान' है। अब कोई तलवार लटकाये नही घूमता कि तन जाए तलवार हर बात पर, पर 'धौस' सबके पास है। मेरे पास कुछ ज्यादा होगी, आपके पास कुछ कम। पर यह सबका सहारा बन गयी है, जो हर बात पर उछल पडती है। यह हमारा अतिम औजार बन गया है—मनुष्य आतकित है, भयभीत है। जाने कब किसकी धौस क्या कर जाए ?

आखो से दिखायी देने वाले हथियार तो मनुष्य ने छोड दिये हैं और छोडता जा रहा है। लाठी, छुरी, चाकू, पिस्तौल आदि 'हत्यारो' की झोली मे पहुच गये हैं। सभ्य मनुष्य उन्हे छूता भी नही। यहा तक कि हाथापाई भी उसे पसन्द नही है। हिसा के ये बाहरी उपकरण त्याग कर वह अहिसा का राही बना है। राष्ट्रो ने भी अपने आपसी व्यवहार मे बातचीत, मित्रता, सधि और सह-अस्तित्व की पहल शुरू की है। शस्त्रो से सजी-धजी फौजे और आयुधो का एक महाभण्डार सबके पास है, पर पहला कदम बातचीत का ही उठता है। इस तरह मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन मे भी राह अहिसा की ही पकडी है, लेकिन व्यक्तिगत जीवन मे हिसा के जिन उपकरणो से उसने निजात पायी और सामाजिक जीवन मे जिस 'वैपनलेस सोसायटी —शस्त्रहीन समाज' की उसे चाह है, वह उसके हाथ लग क्यो नही रहा है? **क्या आप ऐसा महसूस नहीं करते कि मनुष्य ने अपनी झोली से हिंसा के जिन उपकरणो को फेंक दिया है, वे निराकार होकर उसकी रूह मे प्रवेश कर गये हैं?** बाहर से वह खाली हाथ है। उसकी कमर पर अब कोई तलवार लटकती नही दिखायी देती। और न ही हमारे राष्ट्राध्यक्षो के हाथो मे धनुष-बाण है और पीठ पर तरकस। वे भी खाली हाथ ही चल-फिर रहे है, लेकिन हिसा को उभारने वाले अति सूक्ष्म उपकरणो से हमारा दिल और दिमाग घिर गया है। हम असहिष्णु हो गये है। बात-की-बात मे गुस्सा उतर कर नाक पर आ जाता है। अपनी नही चली तो भौहे तन जाती है। हम बहुत 'लाइक्स और डिस-लाइक्स—पसन्दगी और नापसन्दगी' वाले हो गये है।

आप मेरे साथ है तो अच्छे आदमी है। मुझसे भिन्न विचार रखते है तो बहुत बुरे आदमी है। आपके देखने-समझने का नज़रिया झूठ। सत्य वही जो मैने देखा है, मैने जाना है। आपके गुण मेरी श्रद्धा नही उभारते, ईर्ष्या बढाते है। आपकी सेवा मे मुझे स्वार्थ की गन्ध आ रही है। आप सहज हँस रहे है, मै उसमे चालाकी का दर्शन कर रहा हूँ। और कुछ ऐसा ही

अक्स आपके चित्त पर मेरे बारे मे पड रहा है। यो बाहर-बाहर मनुष्य बहुत सभ्य बना है। शान्त हुआ है। उसका चेहरा कोमल और खिला-खिला लगता है। देखते ही मुसकराता है, नम्रता देता है और नम्रता पाता है। हम सब मित्रवत् चल-फिर रहे हैं, मिल-जुल रहे हैं, शिष्टाचार निभा रहे हैं, लेकिन हिंसा के नही दिखायी देने वाले उपकरण भीतर-ही-भीतर हरे हो रहे हैं। अहकार, द्वेष, घृणा, तिरस्कार, आग्रह बल्कि दुराग्रह, धौंस ऐसे तेज घातक उपकरण है जो मनुष्य के रक्त मे घुल गये है और अहिंसा का रास्ता रोके हुए हैं। 'स्वार्थ' के टकराते ही ये सब सक्रिय हो जाते हैं और मनुष्य का 'स्वधर्म' घुटने टेक देता है। करुणा, दया, मित्रता, नम्रता, क्षमा, त्याग, सयम, प्रेम आदि मनुष्य के स्वधर्म है। और ये ही अहिंसा के उपकरण है जो उसे आत्मबोध देते हैं तथा अहिसा के मार्ग पर आगे बढाते है।

स्वधर्म सक्रिय क्यो नही ?

पर क्या कारण है कि अहिंसा-धर्मी का स्वधर्म सक्रिय नही होता और अहिंसा धर्म की जय-जयकार करते हुए भी दिन मे सौ-सौ बार भीतर से उसकी हिंसा भडक उठती है ? क्या कारण है कि साधना वह अहिंसा की करता है और रियाज हिंसा की होने लगती है ? इस प्रश्न की तह मे हम उतरे तो पायेगे कि अहिंसा के 'मिकेनिज्म—यन्त्ररचना' का एक मौलिक पुर्जा हमारी पकड से बाहर है। महावीर ने अहिंसा के साथ **'अनेकान्त'** को जोडा था। उनका अहिंसा-रथ अनेकान्त के पहियो पर टिका है। पर अनेकान्त के ये पहिये तो जाम है, चल ही नही रहे—हमने उन्हे छुआ ही नही। यही मानते रहे कि अनेकान्त—स्याद्वाद कोई न्यायशास्त्र या तर्क-शास्त्र का ऐसा व्याकरण है जो पण्डितो के प्रवचन की चीज है। जीवन-व्यवहार मे हम एकान्ती बन गये है। जितना हमने देखा-समझा वही सत्य है और उसी के आग्रह पर टिके हुए है। आपने जो देखा-समझा वह भी सत्य का एक पहलू हो सकता है, यह हमारे गले उतरता ही नही। महावीर

ने अनेकान्त की दृष्टि इसलिए मनुष्य को दी कि वह यह जाने कि सत्य 'अनन्तधर्मा' है। वस्तु के अनेक गुण है। उसकी पर्यायें बदलती हैं। समय और स्थान के अन्तर से भी उसका रूप-स्वरूप और सन्दर्भ बदलता है। अभिव्यक्ति की भी मर्यादाएँ हैं। आप जितना देख पा रहे हैं, उतना कह ही नही पाते। और मैंने बडी मेहनत से जो सत्य ढूँढा है वह भी पूर्ण नहीं है। प्रत्येक द्रव्य पर काल, गुण, गति, समय का प्रभाव पडता है और इसी कारण मनुष्य एक ही बार मे सारे पहलू नही जान पाता। सत्य का कोई एक पहलू ही उसके हाथ लगता है, अन्य सारे पहलू उसकी दृष्टि से ओझल रह जाते हैं। महावीर की यह अनुभूति जो उन्हे जीवन के क्षेत्र मे मिली, वही अनुभूति विज्ञान के क्षेत्र मे वैज्ञानिको को हुई है। आइन्स्टीन ने खूब खोज की और वे पूरे विज्ञान-जगत् को 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी—सापेक्षता के सिद्धान्त' मे गहरा ले गये। एक बार चक्षु खुल गये तो विज्ञान को गति मिल गयी और उसकी ऊर्जा हजार-हजार गुनी होकर पूरे ब्रह्माण्ड को देखने-परखने लगी। विज्ञान को विराट् विश्व-दर्शन का हौसला मिला है।

भौतिक जगत् मे सापेक्षता के पखों पर चढकर जो मनुष्य चाद को देख आया और मगल को छूने जा रहा है, वही आत्म-जगत् मे इतना पगु कैसे रह गया ? अपनी काया से आगे उसे कुछ सूझता क्यो नही ? उसके तार पूरी सृष्टि से जुडने चाहिए थे। किसी और की पीठ पर पडने वाले कोडो की पीडा अकेले रामकृष्ण को ही क्यो हुई ? अपने चारो ओर फैल रही वेदनाओ से आप-हम सब अहिसा-धर्मी पसीजते क्यो नही ? हम इतने असहिष्णु क्यो है ? आपका दर्द मुझे क्यो नही सालता ? हमारी सवेदन-शक्ति 'पेरेलाइज—गतिहीन' हो गयी है। करुणा पिघलती ही नही। मै अपने ही इर्द-गिर्द हूँ—आप तक नही पहुचता। और यहाँ आकर अहिंसा का रथ रुक गया है। महावीर की अहिंसा-साधना इस बात के लिए नही थी कि आपके हाथ से लाठी छूट जाए, आप किसी का हनन नही करे, आदमी तो क्या जीव-जन्तु को भी नहीं मारे। आपके मुँह का कौर निरामिष

हो, कुछ दिन आप निराहारी रह जाएँ, कुछ व्रत-उपवास रख ले, खाने-पीने के सयम पाल लें—यह तो सारा नेति-नेति है। इतना-सा अहिंसा-धर्म महावीर का नही है, लेकिन इससे आगे हम नही बढ पाये। उन्होंने अनेकान्त की दृष्टि इसलिए देनी चाही थी कि मनुष्य अपनी अहिंसा-साधना मे सहिष्णु बने, सवेदनशील बने, अपना अहकार छोडे, सह-अस्तित्व को समझे—आप भी रहे और मैं भी रहूँ। मै ऐसा कुछ नहीं करूँ कि आपकी हस्ती मिटे और आप भी ऐसा कोई काम न करे कि मैं बुझ जाऊँ। यह जो सृष्टि का सम्पूर्ण प्राणि-जगत् है—वनस्पति से लेकर कीट-पतग, पशु-पक्षी और मनुष्य तक फैला है वह सब सह-अस्तित्व की परिधि मे है। मनुष्य का आत्म-धर्म इन सबसे जुडा है। हमारी अहिंसा महज जीव-हत्या का परहेज करके चुप बैठ जाए तो यह आत्म-धर्म हाथ कैसे लगेगा ?

अहिंसा के इस गतिरोध को समझने की जरूरत है। हम बहुत-सी बाते नही करके मानते है कि अहिंसा जी रहे हैं—पर यह मार्कटाइम है—वही के वही पैर पटकना है। हमारा सारा रसोईघर का अहिंसा-आचरण और मन्दिर का पूजा-पाठ या दान-धर्म की करुणा ऐसा अभ्यास हैं जो अहिंसा को आगे नही बढाता। जिन मजिलो पर उसे सरपट दौडना है वहा वह घुटने टेके खडी है। बल्कि, मैं कहूँ कि लडखडा रही है तो अतिशयोक्ति नही होगी। अहिंसा का पुजारी अपनी ही पकड से बाहर है। हिंसा के जिन उपकरणो से उसने निजात पायी थी, वे लौटकर उसके ही भीतर बस गये हैं। सर्वाधिक शक्तिशाली उपकरण 'स्वार्थ' को ऑल एन्ट्री पास मिल गया है—बे रोक-टोक सब जगह पहुचने का अनुमति-पत्र। हिंसा के इस अकेले उपकरण ने ऐसा करिश्मा दिखाया है कि अहिंसा सौ-सौ कदम पीछे हट गयी है। हम देख रहे है कि इतमीनान से हिंसा की पलटन—घृणा, ईर्ष्या, वैर, तृष्णा आदि की 'परेड' होती रहती है और अहिंसा मौन है। अहिंसा के गतिरोध में एक मोरचा 'अहकार' ने सम्हाल लिया है। महावीर जानते थे कि मनुष्य का अहकार अहिंसा का रास्ता रोकेगा।

इसलिए उन्होंने अहिंसा के पथिक को अनेकान्त की दृष्टि दी थी—एक ऐसा 'रडार' जो अहिंसा के जहाज का दिशादर्शक है, पर अहिंसा-धर्मी ने इस उपकरण को हाथ ही नही लगाया। और इस कारण वह अपने ही अहकार से नही बच पा रहा है। लाठी फेंक दी है, बन्दूक को हाथ नहीं लगाता, जीव-हत्या से बचने के लिए उसने बहुत-बहुत उपाय खोज लिये हैं। पर अपने कुल जीवन-व्यवहार मे वह 'स्वार्थ' और 'अहकार' की बैसाखियो पर चल रहा है, और इस तरह अहिंसा एक मुकाम पर आकर ठिठक गयी है।

अहिंसा को गति चाहिए। ऐसी ऊर्जा जो उसके पंख खोल दे। मनुष्य के पास अनन्त करुणा है, पर वह बढती ही नही। उसके पास असीम प्रेम है, पर वह फैलता ही नही। वह क्षमा, सहिष्णुता, धैर्य, सयम, त्याग का स्वामी है, लेकिन उसका यह बहुमूल्य भण्डार बन्द है। खुले तो ऊर्जा प्रकट हो। अभी तो हम टकरा-टकरा कर लौट आते हैं। मैं अपनी उधेड-बुन मे कुछ आपका तोड देता हूँ और आप अपनी ही झक में कुछ मेरा तोड देते हैं। हम 'ही' पर सवार हैं और सृष्टि 'भी' पर टिकी है। नयी पीढी सोचती है—क्या हो गया ह पापा को समझते क्यो नही ! बाजार मे कोई किसी को नही समझना चाहता—सबको अपनी ही पडी है। राजनीति मे प्रजा का कोई अस्तित्व नही, जो कुछ है वह सत्ता ही है। और आगे बढिये तो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को निगलने में लगा है। इस तरह एक पूरी शृखला एक-दूसरे पर सवारी किये हुए है। महावीर का अनेकान्त कहता है उतरो, जिस पर सवारी करना चाहते हो उसका भी कुछ अस्तित्व है, वह भी किसी सत्य के दर्शन कर रहा है। समझो उसे। 'ही' के आग्रह ने बहुत ताकत-आजमाई की है और हिंसा को हजार-हजार पैर मिल गये है। 'भी' को यदि मनुष्य अपना ले तो वह हृदय को छुएगा। हम सबके हृदय एक-दूसरे के लिए खुल जाएँगे। अहिंसा घास की तरह बाहर मैदान मे तो नही उगती—वह उगेगी तो मनुष्य के हृदय मे ही उगेगी। इधर

से करुणा पहुचेगी, वहा से शतगुनी होकर लौटेगी। उधर से प्रेम की धारा इधर आयेगी और यहा महानद बनेगी। मैं अपना क्रोध लेकर उबल पडा हूँ, पर आपकी क्षमा ने उसे टण्डा कर दिया है। निर्वैर के आगे बेचारा वैर क्या करेगा ? त्याग के सामने तृष्णा नही टिकेगी। मैं आपे से बाहर हूँ, पर आप सहिष्णु बन गये है।

मनुष्य की ऊर्जा

लेकिन अहिंसा-धर्मी ने अपनी ही ऊर्जा के इस क्षेत्र मे कदम नही बढाये। वह सिर्फ अपने को बचाता रहा है। हिंसा नजर आयी तो दूर जाकर खडा हो गया है। अहिंसा कहती है—कदो। तुम अपना करुणा-सागर और प्रेम-सरोवर लेकर पहुचोगे तो हिंसा बुझेगी। मनुष्य को हिंसा का 'साइलेन्ट स्पेक्टेटर—मौन दर्शक' बने रहने से बचने के लिए महावीर ने उसे अनेकान्त दृष्टि दी। हमारी यह खुशनुमा धरती इतनी पीडित, इतनी दु खी, अशान्त और लाचार क्यो है ? इसकी तह मे उतरने के लिए अहिंसा के पथिक को अनेकान्त का सहारा चाहिए। जब वह अपनी ही नजर से देखेगा तो उसे पीडा के कारण नही दिखायी देगे। पर जब वह दूसरो की नजर से देखेगा और उनके हृदय चीर का झाकेगा तो उसे वहा वे सब काटे दिखायी देगे जिन्होने सम्पूर्ण प्राणि-जगत् को छेद दिया है।

अहिंसा का राही अपनी मजिल के जिस पडाव पर आज है, वह तो केवल तलहटी है। आगे तो केवल आरोहण-ही-आरोहण है। नयी ऊर्जा के बिना मानव-जाति अहिंसा की यह कठिन चढाई नही चढ सकेगी। और यह ऊर्जा कोई ऊपर से बरसने वाली नही है। हमारा स्वधर्म सक्रिय होगा और जीवन के हर व्यवहार मे सक्रिय होगा तभी यह ऊर्जा हमारे हाथ लगेगी।

○○

१७

सापेक्षता : अध्यात्म और विज्ञान

विज्ञान के क्षेत्र मे आइस्टीन अपने सक्षम और सफल प्रयोगो के माध्यम से मनुष्य को उस बिन्दु पर ले गये, जिस पर महावीर पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ले जाना चाहते थे। जिस सत्य का दर्शन मनुष्य कर रहा है, वह पूर्ण सत्य नही है। गुण, धर्म, काल, गति और सदर्भ-भेद के कारण वस्तु का कोई-न-कोई पहलू मनुष्य की पकड से बाहर है। अब वह यह जिद करे कि उसने जो जाना है, समझा है वही परम सत्य है तो वह धोखे मे है। सदर्भ बदलता है, गति बदलती है, समय बदलता है, वस्तु के अलग-अलग गुण और धर्म उभर कर सामने आते है और सत्य के नये-नये पहलू खुलते जाते है। जितना मैंने जाना वह भी सत्य है और जितना आपने जाना वह भी सत्य हो सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र मे महावीर को यह अनुभूति हुई और उन्होने अनेकान्त के आलोक मे सृष्टि को, वस्तुओ को, द्रव्य को देखा और समझा। अहिंसा के साधक के पैर मजबूत हुए। **अहिंसा एक जीवन-व्यवहार है और अनेकान्त एक दृष्टि है।** इस दृष्टि के बिना अहिंसा टिकेगी नही,

मनुष्य के जीवन मे बहुत गहरे नही उतरेगी। विज्ञान के क्षेत्र मे आइस्टीन ने भी यही दृष्टि प्रदान की—थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी—सापेक्षता।

विज्ञान की दृष्टि

आप एक पुल पर चढ रहे है। बाये हाथ पर एक मकान है—आप कहते हैं—मकान मेरे बाये हाथ पर है। सामने से कोई आ रहा है और उसे वही मकान दाये हाथ पर दिखायी देता है। दोनो के सदर्भ बदल गये हैं, इसलिए उस बदले हुए सदर्भ मे दोनो ठीक है।

बालक तीसरी मजिल पर बैठा हुआ है। मा नीचे से कहती है बच्चा ऊपर है। पिता पाचवी मजिल पर अध्ययन-कक्ष में बैठे है और कहते हैं बच्चा नीचे है। बच्चा तो जहा था वही है पर मा के लिए वह ऊपर है और पिता के लिए नीचे है।

रेल के यात्री को रास्ते मे गडे टेलीफोन के खम्भे दौडते नजर आते है। पर खम्भे कहा दौड रहे है? रेल मे बैठा हुआ वह खुद दौड रहा है, पर उसे लगता है खम्भे भी दौड रहे है। सापेक्षता का यह अन्तर छोटी-छोटी घटनाओ मे हम रोज-रोज महसूस करते है। और हमे वह मान्य है। यह तो एक गृहस्थ की—साधारण मनुष्य की बात हुई। पर आइन्स्टीन विज्ञान-जगत् को रिलेटिविटी—सापेक्षता के मामले मे बहुत गहरे ले गये। उन्होने सिद्ध किया कि मास, टाइम और स्पेस—द्रव्यमान, समय और अन्तरिक्ष पूर्ण नही है—एब्सोल्यूट नही है। सदर्भ-भेद के कारण उनमे अन्तर पडता है। एक और पहलू है, वह है गति—वेग—वेलासिटी। गति की तीव्रता सारा सदर्भ ही बदल देती है और जो तथ्य हमारी कल्पना मे है उससे अलग कोई और तथ्य सामने आता है।

हवाईजहाज से आपका मित्र एक सिक्का गिराता है और देखता है कि वह सीधा नीचे जा रहा है। पर आप नीचे धरातल पर खडे हुए सिक्के

को गोलाई मे आता हुआ देखते हैं। यह गति का खेल है। भारत में जब दिन है अमेरिका के लिए वह रात है, यह बदले हुए स्थान का करिश्मा है। पृथ्वी गोल है— आप इसके गोलार्द्ध मे भारत में सीधे तनकर खडे है तो आपसे ठीक विपरीत गोलार्द्ध पर मेक्सिको के आदमी को शीर्षासन करना चाहिये। पर गुरुत्वाकर्षण के कारण ऐसा नही होता। गुरुत्वाकर्षण तो द्रव्य का भार भी बदल देता है। चाद पर आदमी पहुचा तो वह हलका-फुलका हो गया। स्थान-भेद के कारण स्प्रिंग-वाली तौलने की मशीन से वजन में अन्तर पड जाता है। गति के सदर्भ मे हमारा साधारण गणित काम नही देता। हम जानते हैं कि रेल की गति से हमारी घडियो पर प्रभाव पडता है। स्टेशन की घडी से उसका मेल नही बैठता। हमारा गणित कहता है कि द्रुतगति रॉकेट से हम इस तारे पर ५० वर्ष में पहुचेंगे, वही आइन्स्टीन की सापेक्षता वाला गणित कहता है कि उडते हुए रॉकेट मे समय भी सिकुडेगा और हमारा रॉकेट 30 वर्षो मे ही तारे पर पहुच जाएगा। किसी ने शका की कि समय कैसे सिकुडता है? उसका एक गणित है, फारमूला है। पर आइन्स्टीन ने हसते-हसते यह बात दूसरे ही ढग से मनुष्य को समझायी। उन्होने कहा कि आपकी प्रियतमा के साथ आपका बीता हुआ एक सप्ताह बहुत छोटा लगता है और विरह का एक घण्टा युग के बराबर लगता है। हमारी अनुभूतिया हमे बतलाती है कि सत्य अनेकान्त के आलोक मे ही देखा जा सकता है।

आइन्स्टीन ने अपने प्रयोगो से जब सापेक्षता का सिद्धान्त सिद्ध कर दिखाया तो विज्ञान की दुनिया ही बदल गयी। विज्ञान के हाथ मे एक नयी ऊर्जा शक्ति आयी। चक्षु खुल गये और सत्य के नये पहलू सामने आते गये। मनुष्य स्पेस मे—अन्तरिक्ष मे दौड लगाने लगा। द्रव्यमान ऊर्जा में बदला जाने लगा। हमारी अणु-शक्ति की जड मे आइन्स्टीन का यह सापेक्षता का सिद्धान्त बैठा हुआ है। विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्ति हो गयी।

अध्यात्म की दृष्टि

अध्यात्म के क्षेत्र मे, चिन्तन के क्षेत्र मे यही दृष्टि महावीर ने दी थी। सत्य की खोज मे 'ही' बहुत बाधक रहा है। मेरा यह आग्रह मुझे ही सत्य से दूर ले जाता है। हर मनुष्य के कुछ पूर्वापर विचार हैं, मान्यताएँ हैं, उसका दिमाग कडीशन्ड है—प्रतिबन्धित है। इसलिए सत्य का दूसरा पहलू उसे दिखायी नही देता। अत मनुष्य के जीवन में 'भी' की बहुत गुँजाइश है। हमारी कुछ आन्तरिक अवस्थाएँ हैं। जानने और कहने में अभिव्यक्ति का अन्तर है। ज्यो-का-त्यो हम कह नही पाते। फिर जितना हम देखते-समझते हैं वह एक पहलू है और उसी द्रव्य के कुछ और भी गुण-धर्म हो सकते हैं। समय और स्थान का अन्तर भी लगातार होता रहता है, इसलिए महावीर ने अभिव्यक्ति, स्थान, समय और गुण-धर्म के कारण वस्तु के अनेकान्त पहलू को समझा और वस्तु के प्रति मनुष्य की एकान्त दृष्टि को बदलने की कोशिश की।

महावीर कहते हैं—"सत्य अनन्त-धर्मा है। पर एक दृष्टिकोण से उसके एक धर्म को देखकर शेष छिपे हुए धर्मों का खण्डन मत करो। एक ज्ञात धर्म को ही सत्य और शेष अज्ञात धर्मों को असत्य मत कहो। अपने विचार का आग्रह मत करो, दूसरे के विचारो को समझने का प्रयत्न करो। अपने विचार की प्रशसा और दूसरे के विचार की निन्दा मत करो।"

वस्तु के अनेक गुण, बदलती पर्याये, अनन्त धर्मिता और देखने वाले की सीमाएँ—इस चतुष्कोण के कारण जो देखा, परखा और व्यक्त किया जाता है वह पूर्ण सत्य नही है, अत मनुष्य को सत्य की खोज में हर समय अनेकान्त दृष्टि की जरूरत है। **महावीर की इस सापेक्षता ने अहिंसा की राह पर चलने वाले मनुष्य को बहुत सहारा दिया है। उसे सहिष्णु बनाया है।** मैं अपने विचार, अपनी मान्यता, अपना तरीका आप पर लादूं इससे

हिंसा उभरेगी। मुझे आपका सत्य समझना होगा और आपको मेरा। यह ऐसी ऊर्जा है जिसने मनुष्य को प्रेम सिखाया है, करुणा दी है, सम्पूर्ण सृष्टि के साथ समरस होने का पराक्रम दिया है। इस तत्त्व ने मनुष्य को जोड़ा है—टूटने से बचाया है। जरा और गहरे जाइये—सापेक्षता ने मनुष्य को दुराग्रही बनने से रोका है, सापेक्षता ने उसके अहंकार को तोड़ा है, सापेक्षता उसे हिंसा से बचाती है, उसके क्रोध को रोकती है। मैंने जो देखा और कहा उसे सुनकर आप उबल पड़ते हैं, लेकिन सापेक्षता कहती है—ठहरो 'स्यात्' ऐसा भी है, समझो तो। यह सहिष्णुता है, संवेदना है, मनुष्य का ऐसा करुणा रस है जो यदि सबके हाथ लगे तो हमारी यह सृष्टि बहुत सुखी और संपन्न हो जाए।

आज हम जिस समानता, भाईचारे, शान्ति, सहयोग और शील की बात कर रहे हैं वह अनेकान्त के बिना हाथ नहीं आने की। आइन्स्टीन ने सापेक्षता के सिद्धान्त से जिस ऊर्जा-शक्ति को प्रकट किया, मनुष्य को जिस अणुशक्ति का मालिक बनाया, उसे नभ तक उछालकर चांद और तारे तोड़ लाने का हौसला दिया, उसी मनुष्य को अपने चिन्तन में, व्यवहार में, रोजमर्रा के जीवन में, महावीर का अनेकान्त साधना होगा। आइन्स्टीन की सापेक्षता और महावीर का अनेकान्त एक ही सिक्के की दो बाजुएँ हैं। एक ने मनुष्य को विज्ञान की शक्ति दी है और दूसरे ने उसे अध्यात्म की दृष्टि दी है। इसे पाकर हम समृद्ध हुए हैं—जीकर सुखी हो सकते हैं।

○○

१८

अहिंसा और सह-अस्तित्व

घायल सिंह-शावक कराहते हुए उछला और धरती-मा की गोद मे गिर पडा। धरती ने पूछा—'क्या हुआ बेटे!' रोते-रोते शावक बोला—'मा! वह जो तेरा दो पावो पर खड़े-खडे चलने वाला प्राणी है न! उसने मुझे मारा, मम्मी को भी मारा।' इससे अधिक वह कुछ नही कह पाया और पास ही पडी मृत सिंहनी की तरह उसने भी गर्दन डाल दी।
धरती विह्वल है। वह देख रही है कि मनुष्य का उन्माद बढ़ता जा रहा है। शिकार तो उसका बहुत मामूली खेल है, गोली से कितने जानवर मरेगे? लेकिन अपने बेहतरीन जीवन-स्तर के लिए उसने जिन उपकरणो की खोज की है, जिस तकनीक का सहारा लिया है, रत्नगर्भा के सारे रत्न खोद लाया है और अपनी सुख-सुविधा के लिए जिस यंत्रीकरण मे लगा है उससे पूरी सृष्टि का सतुलन बिगड गया है। कीटनाशी दवाइयो (इन-सेक्टीसाइड्स) के कारण पृथ्वी का कलेवर विषाक्त है, कारखानों के उगलते धुएँ ने वायुमण्डल को प्रदूषित किया है, दूर-दूर तक झीलो मे

और समुद्रो मे विषैला गन्दा पानी फैल गया है और जलचर समाप्त हैं, घने जगल कट गये—पशुओ को सिर छिपाने की जगह नही है, पक्षियो के लिए आकाश कठिन होता जा रहा है और जो अग्नि विश्व की पोषक ऊर्जा थी वह सहार मे लग गयी है। सृष्टि के पच भूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश डावाडोल हैं। विनाश के कगार पर खडे हैं।

दिशा-भ्रम

धरती बहुत चिन्तित है। उसे गर्व था मनुष्य पर। उसके सम्पूर्ण प्राणि-जगत् मे सबसे अधिक शात, धैर्यवान, क्षमावीर, मेधावी, करुणा-मूर्ति, सत्य का उपासक और ज्ञानवान कोई है तो मनुष्य है। आत्मदर्शी है और आत्मजयी है। उसने पशुबल के निचले स्तर से ऊपर उठकर आत्मबल को पहचाना है, और इसीलिए उसने अहिंसा की राह पकडी है। हिंसा तोडती है और क्रूर बनाती है। **मनुष्य के पास सवेदना है, इसलिए वह पूरी सृष्टि के साथ एकता अनुभव करता है। जुड ही सकता है। टूटकर अलग हो जाना उसका धर्म नहीं है।** उसे मालूम है कि वह कुछ जी सकता है तो अहिसा ही जी सकता है, क्रूरता कब तक करेगा—लौट-कर उसे करुणा ही ओढनी है, घृणा उसकी प्राणवायु (ऑक्सीजन) नही है—वह प्रेम ही कर सकता है। इस आत्मबोध को पाने मे उससे कोई चूक नही हुई। उसने अपने-आपका सही आकलन किया है। सौ-सौ सदियो से वह बार-बार अहिंसा, करुणा, दया, प्रेम की ही दुहाई देता रहा है। उसके सारे देवता, सारे भगवान करुणा-सागर है, आत्मजयी हैं, मगल-मूर्ति हैं, पालनहार है।

फिर क्या हुआ कि इस विशाल सृष्टि के अनन्त प्राणियो के बीच सबसे अधिक घृणा, द्वेष, क्रूरता, विनाश, सहार और हत्या मनुष्य के पल्ले बध गयी? अभी-अभी विश्व के 200 वैज्ञानिको ने सम्पूर्ण मानव-जाति से जो मार्मिक अपील की है उसका निचोड यही है कि, मनुष्य ने यदि अपने

जीवन की राह नही बदर्ल। तो सृष्टि के महानाश का कलक उसके सिर लगने वाला है। कृषि वैज्ञानिक कहते हैं कि अपर्न। झक मे हमने धरती का पोषण करने वाले बेशकीमती कीट-पतगो का नाश कर दिया है, बन्य जातियो की बहुत सी उपयोगी नस्लें समाप्त है, वनस्पति पर इतने फरसे गिरे कि शस्य-श्यामला धीरे-धीरे नग्न हो चर्ला है। परिणाम सामने है--रेगिस्तान हर वर्ष बढ़ रहे है, पीने का पार्नी कम होता जा रहा है, धरती की उपजाऊ परतें बह-बह कर समुद्र मे मिल रही हैं, हम अन्न की कमी महसूस कर रहे है। करोडो भ्रूण (एम्ब्रियो) की हत्या करने के बावजूद भी हमारी आबादी लगभग ढाई गुना बढ गयी है। इस बोझ को धरती सहने के लिए तैयार नही है। परिस्थिति-विज्ञान (इकॉलॉजी) का विद्यार्थी आपको एक सास मे कई-कई बाते गिना देगा। हमने कितने खनिज पदार्थ खोद लिये हैं, कितना-कितना रोज नष्ट कर रहे हैं, हमारी एक-एक आवश्यकता की पूर्ति मे इतनी शक्ति खर्च हो रही है कि हमारे सारे प्रकृति-भण्डार चौ बोल गये है। जिस सभ्यता के पखो पर हम सवार है, वह अब लडखडाती दिखायी देती है। हालत यह हुई है कि करुणा के उपासक के पास अपने ही पेट की ज्वाला बुझाने को अन्न नही है, शाति के पुजारी की दुनिया कोलाहल से भर गयी है, वह जीव-दया की स्थिति मे ही नही है---स्वय दया का पात्र है।

खुदगर्जी

उसे अपने अस्तित्व (एक्जिस्टेन्स) की चिन्ता है। एक अच्छे स्तर की जिन्दगी। जो स्तर आपको प्राप्त है उससे ऊचा मुझे चाहिए। छीनूंगा आपसे--या आप जहा से छीनकर लाये है, मैं भी वहा से छीन-झपट कर लाऊगा। मेरा सारा ध्यान अपने बढ़िया अस्तित्व के लिए चीजे बटोरने मे लग गया है, अधिकार प्राप्त करने मे लग गया है। कोई अन्त ही नही है---होड-ही-होड है। ऐसा नही करता हूँ तो मेरा अस्तित्व खतरे मे पडता है। इस खुदगर्जी (सेल्फ एक्जिस्टेन्स) और उच्च जीवन-स्तर की

चाह ने मनुष्य को एक अच्छा खासा लडाकू—खूंखार प्राणी बना दिया है। यों उसके पास न सिंह की गर्जना है, न इतने पैने दात कि किसी को फाड खाए, न तेज नाखून वाले पंजे, न विषधर का विष—शरीर में बहुत कम ताकत बची है, लेकिन उसने अपना जीवन जीने के लिए जिन उपकरणो को साधा है, उनसे प्रकृति का सहार हो रहा है। अपने आपसी रिश्तो मे भी उसने जिन उपकरणो का सहारा लिया है, वे उसे ही तोड रहे है। इसान-ही-इसान को काट रहा है। बनमानुषो, कबरबिज्जुओ या अन्य हिंसक प्राणियो के हमलो से तथा सापो के डसने से आखिर कितने मनुष्य मरते हैं ? हजार-हजार गुना अधिक मनुष्य तो आदमी के हत्याकाडो से, सग्रहवृत्ति से, भुखमरी से, आगजनी से, युद्धो से और राजनैनिक क्रूरताओ से मर रहे है।

शायद हमारा ध्यान इस पर गया ही नही कि प्रकृति के दोहन मे, अपने उपभोग की बेशुमार सामग्री के निर्माण मे और अपने आरामदेह उच्च जीवन-स्तर की प्राप्ति मे जिन उपकरणो को—साधनो को फैला-फैला कर पूरी सृष्टि को पाट दिया है, वे प्रकृति के भयकर विनाश के कारण बन गये है। दूसरी ओर हमने अपने बचाव के लिये जो किलेबंदी आपस-आपस मे की है वह भी पूरी तरह हिंसा से जुड गई है। हमारे स्वार्थ और अहकार ने घृणा, द्वेष, वैर और क्रूरता की फौज खडी की है। जिसने करुणा और प्रेम का रास्ता रोक लिया है। बेचारी अहिंसा मदिरो मे दुबक गयी या रसोईघर मे जा छिपी। व्रत-उपवास और पूजा-पाठ के चोले मे वह कब तक मगन बैठी रहेगी ? उसे तो बाहर निकलकर सम्पूर्ण सृष्टि की धमनियो मे प्रवेश करना है।

महावीर की अहिंसा का सीधा सबध सह-अस्तित्व (को-एग्जिस्टेंस) से है। 'जीओ और जीने दो।' अहिंसाधर्मी कहता है कि—मैंने यही रास्ता तो पकडा है। हत्या करता ही नही। मेरी सभ्यता में तो हाथापाई भी वर्जित है। आखो देखते मुझसे न मच्छर मारा जाएगा, न चीटी। मेरी

थाली एकदम साफ-सुथरी है। मेरी जमात के कुछ शाकाहारी तो इतना आगे बढे है कि दूध भी उन्होने मासाहार की सूची मे डाल दिया है। मेरे नही करने की (डू नॉट्स) फेहरिश्त तो देखिए! अपने तन को मैंने कितना बचाया है! मानव-समाज मे हत्यारो को कोई इज्जत नही है। शिकार की आदत भी छूटती जा रही है। अहिंसा-धर्मी ने अपने व्यक्तिगत आचार-व्यवहार के बहुत कडे नियम साधे हैं।

लेकिन धरती का और मनुष्य की पूरी जमात का एक्सरे तो लीजिए। क्या कहते हैं ये एक्सरे? धरती को विनाश के डेन्जर झोन-खतरे के क्षेत्र मे घसीट लाने का पूरा कलक मनुष्य के माथे चढ गया है। और साथ ही अपनी जमात के हजार-हजार दु ख उसने ही न्योते है। एक ओर, वह धरती का सबसे तीव्र हिंसक प्राणी साबित होता जा रहा है और दूसरी ओर, अपने आपसी व्यवहार मे वह मछली-वृत्ति का बन गया है। बडी मछली छोटी मछली को निगल रही है। आज के मनुष्य को न शेर से भय है, न भेडिये से। मनुष्य के सामने सबसे भयानक जानवर अब स्वय मनुष्य है।

उत्तर खोजिए

ऐसा क्यो हो गया? हम तो प्यार पैदा करने चले थे। करुणा जगाने चले थे। सब जीवो से मैत्री जोडने चले थे। लेकिन हमारे हाथ क्रूरता से क्यो सन गये? मैं कदम यहा उठाता हूँ और हिंसा वहा भडक उठती है। अपने ही घर मे बैठ-बैठे जाने क्या कर देता हूँ कि दूर बैठा इन्सान सौ-सौ बार काप जाता है। मेरा अस्तित्व टिकता है और उसका टूट जाता है। और जब उसका अस्तित्व रहता है तो मेरा टूटने लगता है। क्या हमारे अस्तित्व आपस-आपस मे एक-दूसरे के विरोधी हैं? मानव शास्त्री (एन्थ्रोपोलाजिस्ट) कहते है कि सबसे पहले मनुष्य ही 'अस्तित्व के लिए युद्ध (स्ट्रगल ऑफ एक्जिस्टेन्स)' से ऊपर उठा है। वह मानवता का जनक है। 'अस्तित्व के लिए युद्ध की नही, प्यार की जरूरत है'—इसी अनुभूति

के भरोसे उसने अहिंसा-धर्म स्वीकारा है। फिर वह उसके हाथ लगा क्यों नही ?

आपकी तरह मैं भी इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहता हूँ। कही ऐसा तो नही कि छोटी-छोटी हिंसायें तो हमने बचा ली और बडी-बडी विनाशकारी हिंसाओ से हम जुडते चले गये है ? मैं बहुत ममता के साथ गाय को घास खिला रहा हूँ और पैर में लचीले कॉफ शू (बछडे के मुलायम चमडे से बने जूते) पहने हूँ। पीने का पानी छानकर लेता हूँ और मेरे कारखाने का विषैला पानी मीलो तक मछलिया नष्ट किये जा रहा है। मैं अनाज और भाजी के शोधन मे लगा हूँ, पर मेरी कीटनाशक दवाइयो ने अरबो कीट-पतगो को स्वाहा कर दिया है। उस मौन से क्या होगा जो आप थोडी देर के लिए 'ओम् शाति शाति ' या 'आमीन' बोलकर प्रार्थना भवनो मे साध रहे है—उधर तो मनुष्य ने पूरी सृष्टि को कोलाहल ही कोलाहल दे दिया हे। इतना शोरगुल कि आपका गुस्सा आपके काबू से बाहर है। प्रेम के बदले मनुष्य के पल्ले चिडचिडाहट आयी है। आपने कभी जाना कि जो सोना वीतरागी मूर्ति का छत्र बनकर शोभायमान है और हर परिवार के लिए श्री और समृद्धि का चिह्न है, उसमे कितने-कितने मनुष्यो की हत्या शरीक है ? खनिज वैज्ञानिक के आकडे बोलते है कि औसतन एक तोला सोने के पीछे एक मनुष्य का बलिदान स्वर्ण-खदानो ने लिया है। हमे रासायनिक कपास (सिन्थेटिक फाइबर) से बने चिकने कपडे बहुत भले लग रहे है, लेकिन उनके निर्माण मे जो मलबा धरती की छाती पर फैल रहा है उससे वह निर्जीव बनती जा रही हे। हमने अपने जीवन को समृद्ध, साधन-सम्पन्न, आरामदेह और गतिपूर्ण (फास्ट) बनाने की धुन में जिस सभ्यता को स्वीकार किया है उसके तार हिसा से, बल्कि सहारक हिंसा से जुडे हैं।

मनुष्य को अपने लिए, अपने आसपास के सम्पूर्ण प्राणि-जगत् के लिए और समूची सृष्टि के लिए बहुत-बहुत प्यार और करुणा की जरूरत है।

जिस अहिंसा को वह जी रहा है, अपर्याप्त है —क्योंकि वह उसके ही इर्द-गिर्द चल रही है। सारी सृष्टि को अपने प्यार में समेट लेने वाला जीवन मनुष्य तभी जी सकेगा, जबकि वह अपने अस्तित्व के बजाय 'सह-अस्तित्व' की बात सोचे और वैसा आचरण करे। सह-अस्तित्व के लिए जीवन बदलना होगा। लौट तो सकते नही—कोई यह कहे कि आप सारे कपडे फेंककर या तो दिगम्बर हो जाइये या वल्कल लपेट लीजिए तो वह सभव नही है। न यह सभव है कि आप अपनी रुचि के लजीज पदार्थ फेंककर कद-मूल पर टिक जाएँ। न यह ही सभव है कि ऊँचे भवनो से उतरकर आप घासफूस की झोपडी मे चले जाएँ। उपभोग की अनन्त सामग्रियो मे से किस-किस को छोड सकेंगे? आज का मनुष्य न तो मिताहारी हो सकता है, न मितभाषी और न मितव्ययी—थोडे मे उसका चलता ही नही। शायद अब हम पीछे नही लौटने की स्थिति (पॉइन्ट ऑफ नो रिटर्न) मे हैं। उपभोग की जिस मजिल पर खडे है वहा से ऐसी कोई छलाग नही लगायी जा सकती कि मनुष्य फिर से पाषाण युग मे लौट पडे।

तो क्या जितना आत्मधर्म उसके हाथ लगा, अहिंसा के जितने डग उसने भरे, जितनी करुणा—जीव-दया उसने उपजायी वह सब समाप्त है? और धरती अपने श्रेष्ठतम समझदार, गुण-सम्पन्न और आत्मबोधी प्राणी को सर्वाधिक खूँखार घोषित कर सहार की बाट जोहेगी? बहुत गाढे समय—सकट की महाघडी मे दुनिया को महावीर की याद आयी है। उन्होने मनुष्य को जो अहिंसा-धर्म दिया वह केवल उसके निज के जीवन के लिए नही है, उसका सम्बन्ध पूरी सृष्टि से है। उसकी सास सृष्टि के सम्पूर्ण स्पन्दन से जुडी है। सृष्टि की यह धडकन हमे सुननी होगी। सह-अस्तित्व (को-एक्जिस्टेन्स) के अलावा मनुष्य के सामने कोई और गली (शार्टकट) नही है।

एकमात्र यही रास्ता है

अहिंसा-धर्मी ने हिंसा से बचने के लिए अपने आसपास भक्ति, भोजन और भावना का जो कवच (खोल) रच लिया है उससे बाहर निकलकर उसे अपने सम्पूर्ण रहन-सहन, कारोबार, राज और समाज की परिपाटी, जीवन-व्यवहार और अपने उपभोग की तमाम वस्तुओ के साथ अहिंसा को जोडना होगा। इसके लिए महावीर ने एक ही कसौटी उसे थमायी है—सह-अस्तित्व।

● तौलिये आप जिन चीजो का निर्माण कर रहे है और रात-दिन अपने सुखी जीवन के लिए जिन-जिन वस्तुओ को काम में ले रहे है—इस मिकेनिज्म (यन्त्रीकरण) से सृष्टि का विनाश तो नही हो रहा है ?

● तौलिये, मानव जीवन मे हमने जिन-जिन परम्पराओ, व्यवस्थाओ, राजकीय पद्धतियो, विधि-विधानो और आतको को पुष्ट किया है वे मनुष्य को तोड तो नही रहे हैं ?

● तौलिये, आपके स्वय के अस्तित्व को टिकाये रखने मे हिंसा के उपकरण—घृणा, द्वेष, क्रोध, तृष्णा और क्रूरता—को बढावा तो नही मिल रहा है ?

अहिंसा जीनी हो त [illegible] कर [illegible] अपना जीवन बदलना होगा। आधुनिक सभ्यता के जिस शिखर पर वह चढ बैठा है, वहा से उतर कर धरती पर पैर टिकाने होगे। अहिंसा की रेलगाडी के लिए प्रेम और करुणा की पटरिया बिछानी होगी। अहिंसा की जय-पताका लेकर हम कितना ही दौडे, नीचे तो पटरिया स्वार्थ और अहकार की ही बिछी है और सारा जीवन उसी पर टिका है। हाथ मे अहिंसा और पैर में हिंसा—दोनो साथ कैसे चलेगे ? आपका अस्तित्व और मेरा वर्चस्व, दोनो कैसे मेल खायेंगे? आखो मे करुणा और करनी मे क्रूरता, मुँह मे सवेदना और व्यवहार मे उपेक्षा, साथ नही चलेगी।

भगवान महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण वर्ष में हम दौडे तो बहुत हैं—पर उन्हीं बिछी-बिछायी पटरियों पर दौडे है। उन्हें उखाड फेंकते और प्रेम तथा करुणा की पटरिया बिछा देते तो ढाई हजार वर्ष पहले का महावीर फिर से हमारी रूह में आ जाता। अब जब कि हमारे समारोहात्मक परिनिर्वाण का यह अंतिम चरण है, क्या यह सकल्प हम ले सकते हैं कि हमारे प्यार का पहला लहमा हमसे ही शुरू होगा। महावीर के सारे भक्त अपने-अपने पूजा-पाठी रीति-रिवाजों की दीवारें तोडकर एकता महसूस करेंगे और महावीर ने संपूर्ण सृष्टि के जिस प्रेम को अनुभूत किया था उसे आपस में बांटेंगे और अपने अहिंसा धर्म को सह-अस्तित्व, अनेकांत और अपरिग्रह से जोडेंगे। अहिंसा का कलश टिकेगा तो इसी त्रिकोण पर टिकेगा। ○○